

बिहार राज्य आदि. आदि.

बनाम

पी. पी. शर्मा, आई. ए. एस. और अन्य

अप्रैल 2,1991

[कुलदिप सिंह और के. रामास्वामी, न्यायमूर्तिगण]

*भारत का संविधान, 1950 : अनुच्छेद 226 - उच्च न्यायालय - आपराधिक न्यायालय द्वारा किए गए अपराध का संज्ञान लेने से पहले आरोप पत्र को कब और किन परिस्थितियों में अभिखंडित करना उचित होगा।*

*दंड प्रक्रिया संहिता - धारा 173,194,197 - अन्वेषण - पुलिस की शक्तियाँ- न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप जब उत्पन्न होता है।*

बिहार राज्य सहकारी विपणन संघ (बीआईएसकोमाउन) राज्य में उर्वरकों का एकमात्र क्रेता एवं वितरक है। जब कुप्रबंधन के कारण बीआईएसकोमाउन परिसमापन के कगार पर पहुँच गया, तब राज्य सरकार ने उसके निदेशक मंडल को अधिग्रहित कर लिया और 30 जुलाई, 1988 को श्री आर.के. सिंह, आई.ए.एस., को उसका प्रशासक तथा प्रबंध निदेशक नियुक्त किया।

अपने कर्तव्यों के निर्वहन के दौरान आर.के. सिंह ने यह पाया कि राज्य में वितरण हेतु उर्वरकों की खरीद के संबंध में पी.पी. शर्मा, प्रथम उत्तरदाता, गणेश दत्त मिश्र, द्वितीय उत्तरदाता, तथा तपेश्वर सिंह द्वारा वित्तीय अनियमितताएँ की गई थीं। संबंधित समय पर पी.पी. शर्मा बीआईएसकोमाउन के प्रबंध निदेशक थे, गणेश दत्त मिश्र उसके सलाहकार थे तथा तपेश्वर सिंह उसके अध्यक्ष थे।

आर.के. सिंह ने इन वित्तीय अनियमितताओं से संबंधित सूचना 1 सितम्बर, 1988 को थाना प्रभारी, गांधी मैदान थाना, पटना के समक्ष प्रस्तुत की। उनके विरुद्ध लगाए गए आरोपों का मूल आधार यह था कि उन्होंने राजस्थान मल्टी फर्टिलाइजर्स प्राइवेट लिमिटेड के भागीदारों के माध्यम से उक्त कंपनी को अनुचित लाभ पहुँचाने तथा घटिया स्तर के उर्वरकों की खरीद के मामले में बीआईएसकोमाउन को अनुचित हानि पहुँचाने के लिए अपराधिक षड्यंत्र किया था।

इस प्रतिवेदन के आधार पर तपेश्वर सिंह, पी.पी. शर्मा तथा गणेश दत्त मिश्र सहित आठ व्यक्तियों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 409, 420, 468, 469, 471, 120 बी तथा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 7 के अंतर्गत एक मामला दर्ज किया गया। अन्य चार अभियुक्त उक्त कंपनी के भागीदार थे तथा पाँचवाँ अभियुक्त विभाग का एक सहायक था, जिस पर परीक्षण प्रतिवेदनों को जाली बनाने का आरोप था।

मामले की जाँच पुलिस द्वारा पूर्ण की गई और दो पुलिस प्रतिवेदनों—एक आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 7 के अंतर्गत तथा दूसरा भारतीय दंड संहिता की विभिन्न धाराओं के अंतर्गत—अक्टूबर 1988 में सक्षम न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए गए। विशेष न्यायाधीश, पटना ने 9 जनवरी, 1989 से 31 जनवरी, 1989 के मध्य विभिन्न तिथियों पर पक्षकारों की दलीलें इस प्रश्न पर सुनीं कि क्या पुलिस प्रतिवेदनों में उल्लिखित विभिन्न अपराधों का संज्ञान लेने हेतु पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। 31 जनवरी, 1989 को माननीय विशेष न्यायाधीश ने दलीलें समाप्त कर आदेश सुरक्षित रख लिया।

तपेश्वर सिंह और पी.पी. शर्मा ने प्राथमिकी तथा पुलिस प्रतिवेदनों को अभिखंडित किए जाने की प्रार्थना करते हुए पटना उच्च न्यायालय में रिट याचिकाएँ दायर कीं। उच्च

न्यायालय ने रिट याचिकाओं को स्वीकार करते हुए प्राथमिकी तथा अभियुक्त-याचिकाकर्ताओं के विरुद्ध आपराधिक कार्यवाही को अभिखंडित कर दिया।

उच्च न्यायालय ने रिट याचिकाओं के साथ संलग्न दस्तावेजों, जो उसके समक्ष अनुलग्नक के रूप में प्रस्तुत किए गए थे, का मूल्यांकन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि उत्तरदाताओं के विरुद्ध प्रथमदृष्टया कोई अपराध नहीं बनता; कि उक्त अनुलग्नक, जो बीआईएसकोमाउन के अभिलेखों का भाग थे, आर.के. सिंह के संज्ञान में होने के बावजूद उन्होंने उनमें निहित तथ्यों की अनदेखी की और उत्तरदाताओं के विरुद्ध असत्य तथ्यों के आधार पर प्राथमिकी दर्ज कराते समय *दुर्भावनापूर्ण* आचरण किया; कि अभियोजन दूषित है क्योंकि जाँच अधिकारी जी.एन. शर्मा ने दुर्भावना से कार्य करते हुए अनुलग्नकों पर विचार करने से इंकार किया; तथा यह कि पुलिस प्रतिवेदनों और अभिलेख पर उपलब्ध अन्य दस्तावेजों से आवश्यक वस्तु अधिनियम के अंतर्गत कोई मामला नहीं बनता। उच्च न्यायालय ने यह भी माना कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 तथा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 15-ए के अंतर्गत स्वीकृति प्रदान करने वाला संयुक्त आदेश सक्षम प्राधिकारी द्वारा समुचित विचार के अभाव के कारण दोषपूर्ण है; तथा यह कि प्राथमिकी और आरोप-पत्र संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत निहित संवैधानिक आदेश का उल्लंघन करते हैं।

वर्तमान अपीलें उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध हैं, और अपीलकर्ता गिरिजा नंदन शर्मा, एस.पी., सीआईडी, पटना, जो अन्वेषक हैं, तथा आर.के. सिंह, सूचक, बिहार राज्य के साथ हैं।

इस न्यायालय के समक्ष अपीलकर्ताओं की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि उच्च न्यायालय ने अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग करते हुए रिट याचिकाओं के

साथ दायर शपथपत्रों और दस्तावेजों पर विचार करके गंभीर त्रुटि की; कि उच्च न्यायालय ने उसके समक्ष प्रस्तुत शपथपत्रों और दस्तावेजों का मूल्यांकन कर तथा पुलिस द्वारा प्रस्तुत आरोप-पत्रों (पुलिस प्रतिवेदनों) के विपरीत निष्कर्ष निकाल कर वस्तुतः दंडाधिकारी/विशेष न्यायाधीश के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण किया; कि जिस चरण पर विशेष न्यायाधीश मामले से संबद्ध थे और पुलिस प्रतिवेदनों में निहित सामग्री का मूल्यांकन कर रहे थे, उस चरण पर कार्यवाही को अभिखंडित करना उच्च न्यायालय के लिए उचित नहीं था; तथा यह कि यदि पुलिस प्रतिवेदनों में लगाए गए आरोपों को सही मान लिया जाए, तो वे उत्तरदाताओं द्वारा संज्ञेय अपराध के किए जाने का खुलासा करते हैं।

दूसरी ओर यह तर्क दिया गया कि उत्तरदाताओं के विरुद्ध अभियोजन सूचक और जाँच अधिकारी की दुर्भावना का परिणाम था; कि सूचक और जाँच अधिकारी की *दुर्भावना* इस मामले के तथ्यों से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है; कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 तथा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 15-ए के अंतर्गत स्वीकृति प्रदान करने वाला संयुक्त आदेश सक्षम प्राधिकारी द्वारा समुचित विचार के अभाव के कारण दोषपूर्ण है; तथा यह कि जब जाँच के दौरान संकलित साक्ष्य निर्विवाद और अचूक नहीं थे, तब अभियोजन तथा कार्यवाही की निरंतरता संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत उत्तरदाताओं के जीवन और आजीविका के अधिकार का उल्लंघन करती है।

अपीलों को स्वीकार करते हुए, उच्च न्यायालय के निर्णय को अभिखंडित किया जाता है तथा उत्तरदाताओं द्वारा उच्च न्यायालय एवं इस न्यायालय के समक्ष दायर रिट याचिकाओं को खारिज किया जाता है।

अभिनिर्धारित: द्वारा कुलदिप सिंह, न्यायमूर्ति

(1) उच्च न्यायालय गंभीर त्रुटियां में पड़ गया और पूरी तरह से गलत निष्कर्षों के आधार पर आपराधिक कार्यवाही को अभिखंडित करने में स्पष्ट अवैधता के साथ कार्य किया।[29 डी]

*आर. पी. कपूर बनाम पंजाब राज्य*, [1960] 3 एस. सी. आर. 388, संदर्भित।

(2) उच्च न्यायालय ने उत्तरदाताओं द्वारा अपनी रिट याचिकाओं के साथ प्रस्तुत किए गए अनुलग्नकों/दस्तावेजों की सराहना करने में गलती की, और संविधान के अनुच्छेद 226/227 के तहत अधिकार क्षेत्र का प्रयोग करते हुए तथ्य के विवादित प्रश्नों पर विचार करने में गलती की। [24 ई]

(3) जिन अनुलग्नकों को न तो पुलिस प्रतिवेदनों का भाग बनाया गया था और न ही जाँच अधिकारी द्वारा उन पर निर्भर किया गया था, उन्हें साक्ष्य के रूप में मानकर उच्च न्यायालय ने स्वयं को एक विचारण न्यायालय में परिवर्तित कर लिया। उच्च न्यायालय ऐसी अधिकारिता ग्रहण नहीं कर सकता था और विधि द्वारा प्रदत्त जाँच एवं विचारण की प्रक्रिया का अंत नहीं कर सकता था। [28 ई]

(4) शक्ति के *दुर्भावनापूर्ण* प्रयोग का प्रश्न तभी महत्वपूर्ण माना गया जब आपराधिक अभियोजन बाहरी विचारों और अनधिकृत उद्देश्य के लिए शुरू किया गया था। [24 जी]

(5) सूचना देने वाले के खिलाफ *दुर्भावनापूर्ण* आरोप प्राथमिकी दर्ज होने के बाद तथ्यों का कोई परिणाम नहीं था और कार्यवाही को अभिखंडित करने का आधार नहीं हो सकता था। [25 डी]

(6) इस प्रकरण में ऐसा कोई भी सामग्री नहीं थी जिससे यह दर्शाया जा सके कि जिस तिथि को आर.के. सिंह द्वारा प्राथमिकी दर्ज की गई, उस समय वे पक्षपात से प्रेरित

थे या उनके पास दुर्भावनापूर्ण ढंग से कार्य करने का कोई कारण था। उत्तरदाताओं के विरुद्ध मामला दर्ज करने का प्रधान उद्देश्य प्राथमिकी में निहित आरोपों की जाँच कराना तथा यदि आरोपों के समर्थन में पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो तो न्यायालय के समक्ष आरोप-पत्र प्रस्तुत करना था। ऐसा कोई सामग्री नहीं थी जिससे यह सिद्ध हो कि मामला दर्ज करने का प्रमुख उद्देश्य उत्तरदाताओं की चरित्र हनन करना या उन्हें प्रताड़ित अथवा अपमानित करना था।[24 एच-25 ए]

जब पुलिस थाना में सूचना दर्ज की जाती है और कोई अपराध पंजीकृत होता है, तब सूचक की *दुर्भावना* का महत्व गौण हो जाता है। यह अन्वेषण के दौरान संकलित सामग्री ही होती है जो अभियुक्त के भाग्य का निर्धारण करती है। [25 बी]

*बिहार राज्य बनाम जे. ए. सी. सल्धाना और अन्य*, [1980] 2 एससीआर 16 और *हरियाणा राज्य बनाम च.भजन लाल*, जे. टी. (1990) 4 एस. सी. 655, संदर्भित।

(7) जब दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 के अंतर्गत पुलिस प्रतिवेदन न्यायिक परीक्षण से गुजरने वाला था, तब उच्च न्यायालय के लिए यह कहना खुला नहीं था कि कुछ दस्तावेजों पर जाँच अधिकारी द्वारा विचार नहीं किया गया, इस आधार पर उसमें दोष निकाला जाए।[25 जी]

(8) सिर्फ इसलिए कि जांच अधिकारी ने *ईमानदारी* से काम करते हुए कुछ दस्तावेजों को अप्रासंगिक बताते हुए खारिज कर दिया, यह मानने का कोई आधार नहीं था कि उसने *दुर्भावना* से काम किया था।[25 ई]

(9) दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत स्वीकृति कोई औपचारिकता मात्र नहीं थी। उसमें निहित प्रावधानों का पूर्ण कठोरता से पालन किया जाना आवश्यक था। स्वीकृति प्राप्त करने का उद्देश्य यह था कि सक्षम प्राधिकारी जाँच अधिकारी के समक्ष

उपलब्ध सामग्री पर स्वयं विचार कर सके और तत्पश्चात यह निर्णय ले सके कि परिस्थितियों में अभियोजन की स्वीकृति दी जाए या रोकी जाए। धारा 197 के अनुपालन हेतु यह सिद्ध किया जाना आवश्यक है कि स्वीकृति आरोपित अपराध का गठन करने वाले तथ्यों के संबंध में दी गई थी। यह वांछनीय था कि वे तथ्य स्वीकृति-पत्र के मुख पर उल्लिखित हों। [ 28 ई ]

(10) धारा 197 में किसी भी विशेष रूप में मंजूरी की आवश्यकता नहीं थी। यदि आरोपित अपराध का गठन करने वाले तथ्यों को मंजूरी के तथ्य पर नहीं दिखाया गया था, तो अभियोजन पक्ष के लिए, यदि चुनौती दी जाती है, तो न्यायालय के समक्ष यह साबित करने के लिए खुला था कि उन तथ्यों को मंजूरी देने वाले प्राधिकरण के समक्ष रखा गया था। मंजूरी के रूप से यह स्पष्ट होना चाहिए कि मंजूरी देने वाले प्राधिकारी ने अपने समक्ष रखी गई प्रासंगिक सामग्री पर विचार किया और मामले की सभी परिस्थितियों पर विचार करने के बाद अभियोजन को मंजूरी दी। [28 एफ]

(11) वर्तमान मामले में मंजूरी की तारीख को जांच पूरी हो गई थी और दंडाधिकारी के समक्ष पुलिस प्रतिवेदन दायर की गई थी। मंजूरी देने वाले प्राधिकरण ने मंजूरी आदेश में विशेष रूप से उल्लेख किया था कि मंजूरी देने से पहले कागजात और केस डायरी पर विचार किया गया था। [28 जी]

(12) केस डायरी पुलिस जाँच का एक पूरा रिकॉर्ड था। इसमें आरोपों के समर्थन में या अन्यथा कुल सामग्री थी। मंजूरी देने वाले प्राधिकारी ने मामले की डायरी को ध्यान में रखते हुए -मंजूरी देने से पहले, यह नहीं कहा जा सकता था कि मंजूरी देने वाले प्राधिकारी की ओर से कोई समझदारी नहीं थी। [28 एच-29 ए]

(13) उच्च न्यायालय के निष्कर्ष कि आवश्यक वस्तु अधिनियम के तहत उत्तरदाताओं के खिलाफ कोई अपराध नहीं किया गया था, यह भी 'अनुलग्नक' और रिकॉर्ड पर अन्य विवादित तथ्यों की सराहना पर आधारित था और इस तरह उन्हीं कारणों से असमर्थनीय था। [29 सी]

*द्वारा न्यायमूर्ति के. रामास्वामी*

(1) उच्च न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 226 के तहत अपने असाधारण अधिकार क्षेत्र का प्रयोग करते हुए आपराधिक मामले की पूर्व सुनवाई करने में कानून की सबसे बड़ी त्रुटियाँ की गई हैं। [49 बी]

*पश्चिम बंगाल राज्य बनाम स्वर्ण कुमार; [1982] 3 एस. सी. आर. 121 और जी. माधोराव जे. सिंधिया बनाम संभाजी राव, [1988] 1 एस. सी. सी. 692 प्रतिष्ठित।*

(2) आपराधिक न्यायालय द्वारा संज्ञान लेने से पहले ही आरोप पत्र को अभिखंडित करना "एक मृत जन्मे बच्चे की हत्या" के बराबर है। जब तक आपराधिक न्यायालय अपराध का संज्ञान नहीं लेती, तब तक कोई आपराधिक कार्यवाही लंबित नहीं है। [48 सी]

(3) संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत विशेषाधिकारयुक्त विवेकाधीन शक्ति का प्रयोग करते समय उच्च न्यायालय की पहुँच इतनी व्यापक है कि वह अपने अधिकार-क्षेत्र में किसी भी न्यायालय, अधिकरण या प्राधिकारी की न्यायिक अथवा अर्द्ध-न्यायिक प्रक्रिया में जहाँ कहीं भी अन्याय पाया जाए, वहाँ तक पहुँच सके; किंतु यह शक्ति स्व-आरोपित सीमाओं से आबद्ध है। [32 सी]

(4) दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 पुलिस को उन सभी मामलों में, जहाँ उसे यह संदेह हो कि कोई संज्ञेय अपराध किया गया है, निर्बाध जाँच-शक्ति प्रदान करती है। उपयुक्त मामलों में पीड़ित व्यक्ति संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत उच्च न्यायालय की शक्ति

का सहारा लेकर उपचार प्राप्त कर सकता है। यदि न्यायालय यह मान ले कि जाँच की शक्ति का प्रयोग पुलिस अधिकारी द्वारा दुर्भावनापूर्ण ढंग से किया गया है, तो अन्वेषक को अपनी वैधानिक शक्तियों के दुरुपयोग से रोकने हेतु परमादेश जारी किया जा सकता है।

[35 बी]

एस. एन. शर्मा बनाम बिपिन कुमार तिवारी और अन्य, [1970] 3 एस. सी. आर. 945; बिहार राज्य और अन्य बनाम. जे. ए. सी. सल्दान्हा और अन्य, [1980] 1 एस. सी. सी. 554; पश्चिम बंगाल राज्य बनाम संपत लाल, [1985] 1 एस. सी. सी. 317; दिल्ली नगर निगम बनाम पुरुषोत्तम दास झुनजुनवाला और अन्य, [1983] 1 एस. सी. सी. 9 और अभिनंदन झा और अन्य बनाम दिनेश मिश्रा, [1967] 3 एससीआर 668, का उल्लेख किया गया है।

(5) पुलिस द्वारा की जा रही जाँच के दौरान न्यायपालिका की भूमिका पूरक होनी चाहिए और अन्वेषक को घटनाओं की कड़ी से जुड़े साक्ष्यों को संकलित कर सत्य की खोज, अर्थात् अपराध के घटित होने का प्रमाण स्थापित करने हेतु पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए।[37 डी]

किंग एम्परर बनाम ख्वाजा नजीर अहमद, 76 भारतीय अपील 203 और जमुना चौधरी बनाम बिहार राज्य, 3 एस. सी. सी. 774 (1974) ने संदर्भित किया।

(6) दुर्भावनापूर्ण निवेदन के निर्धारण में दो प्रश्न शामिल हैं अर्थात् (i) क्या कोई व्यक्तिगत पूर्वाग्रह है या कोई अप्रत्यक्ष उद्देश्य है; और (ii) क्या प्रशासनिक कार्रवाई प्रशासनिक शक्ति के वैध प्रयोग के उद्देश्यों, आवश्यकताओं और शर्तों के विपरीत है।[38 ई]

(7) एक शिकायतकर्ता जब किसी व्यक्ति पर अपराध करने का आरोप लगाते हुए थाना प्रभारी अधिकारी को प्रतिवेदन दर्ज कराता है, तो वह अक्सर पीड़ित व्यक्ति हो सकता

है, लेकिन शायद ही कभी सार्वजनिक रूप से पेश किया जाता है। इसलिए, अंतर्निहित शत्रुता वैध है और अपने आप में आरोप की सत्यता को कम करने की प्रवृत्ति नहीं है, बशर्ते कि यह तथ्यात्मक आधार पर आधारित हो। [39 ए-बी]

(8) जिस व्यक्ति के खिलाफ *दुर्भावनापूर्ण* या पक्षपातपूर्ण आरोप लगाया गया था, उसे कार्यवाही के पक्षकार के रूप में सह-नामित किया जाना चाहिए और उन आरोपों को पूरा करने का अवसर दिया जाना चाहिए। उनकी अनुपस्थिति में उन आरोपों की कोई जांच नहीं की जाएगी। अन्यथा यह अपने आप में प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन है, क्योंकि यह बिना किसी अवसर के किसी व्यक्ति की निंदा करने के बराबर है। स्वीकारतः आर. के. सिंह और जी. एन. शर्मा दोनों को शामिल नहीं किया गया था। [40 ए-बी]

(9) उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष कि जांच अधिकारी की *दुर्भावना* रिट कार्यवाही में उनकी भागीदारी के बाद के आचरण से स्थापित हुई थी, स्पष्ट रूप से अवैध था। जब जाँच न्यायालय में चुनौती का विषय थी, तो यह स्पष्ट होगा कि केवल अन्वेषक को ही मामले का बचाव करना था; उसे सी को प्रति-शपथपत्र दायर करना था और राज्य की ओर से कार्यवाही में उपस्थित होना था। [41 एफ]

*बिहार राज्य बनाम जे. ए. सल्दाना*, ए. आई. आर. 1980 एस. सी. 326

(10) *दुर्भावनापूर्ण* या पक्षपातपूर्ण आरोपों को स्वीकार करने से पहले यह न्यायालय का हितकारी और भारी कर्तव्य और जिम्मेदारी है कि वह न केवल जांच की शुरुआत में जांच अधिकारी के खिलाफ व्यक्तिगत दुश्मनी के विशिष्ट और निश्चित आरोप लगाने पर जोर दे, बल्कि उन्हें न्यायालय की संतुष्टि के लिए तथ्यों और परिस्थितियों से स्थापित करने और साबित करने पर भी जोर दे। [42 डी]

(11) केवल *दुर्भावनापूर्ण* कथन या अस्पष्ट या निराधार कथन पर्याप्त नहीं था। इसे किसी दिए गए मामले में स्वीकार किए गए या सिद्ध तथ्यों और परिस्थितियों द्वारा प्रदर्शित किया जाना चाहिए। [38 एफ]

(12) कानूनी रूप से द्वेष का अनुमान जानबूझकर बिना किसी उचित कारण या बहाने के या वैधानिक शक्ति के प्रयोग के उद्देश्य के साथ उचित संबंध के बिना गलत कार्य करने से लगाया जा सकता है।[42 जी]

(13) अभियुक्त के लिए प्रासंगिक कहे जाने वाले कुछ दस्तावेजों को हटाने से कानून में द्वेष स्थापित नहीं होता है। समान रूप से, थाना प्रभारी को किसी अपराध की सूचना देना बुरे विश्वास या सत्ता के साथ धोखाधड़ी के साथ सत्ता का एक रंगीन अभ्यास नहीं माना जा सकता है।[42 एच]

(14) उच्च न्यायालय के यह निष्कर्ष कि प्राथमिकी प्रशासन की *दुर्भावना* के कारण दूषित हो गई थी तथा आरोप-पत्र सूचक या जाँच अधिकारी की *दुर्भावना* का परिणाम थे—कम से कम इतना कहना पर्याप्त है—कल्पनातीत थे और विधि की स्पष्ट एवं गंभीर त्रुटि को दर्शाते थे। [43 सी]

*हरियाणा राज्य बनाम भजनलाल*, जे. टी. (1990) 4 एस. सी. 655, संदर्भित।

(15) एक जाँच अधिकारी जो संवैधानिक आदेशों के प्रति संवेदनशील नहीं है, वह व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को रौंदने के लिए प्रवण हो सकता है जब वह *दुर्भावना* से प्रेरित होता है। लेकिन अभियुक्त को जल्द से जल्द व्यक्तिगत पूर्वाग्रह और अपने उचित विश्वास के बारे में न्यायालय के ध्यान में लाना चाहिए कि आवश्यक सामग्री तथ्यों के साथ अनुरोध करके और तथ्य के रूप में साबित करके अन्वेषक के हाथों अपराध की वस्तुनिष्ठ जांच नहीं की जाएगी। यदि वह आरोप पत्र दायर होने तक खड़ा रहता है, तो यह

माना जाना चाहिए कि उसने अपनी आपत्ति को माफ कर दिया है। प्रतिकूल प्रतिवेदन देखने के बाद वह कथित *दुर्भावना* की पैरवी करने के लिए मुड़ नहीं सकता है।[43 एच-44 ए]

(16) उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष कि प्राथमिकी एवं आरोप-पत्र ने संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत निहित संवैधानिक आदेश का उल्लंघन किया है, निराधार था। [44 बी]

(17) स्वीकृति आदेश मात्र एक प्रशासनिक कार्य है, न कि अर्ध-न्यायिक; उसमें विस्तृत कारणों का उल्लेख आवश्यक नहीं है। तथापि, अपराध का गठन करने वाले मूल तथ्य आक्षेपित आदेश से स्पष्ट होने चाहिए तथा अभिलेख में उस संबंध में कारण विद्यमान होने चाहिए। [46 एच-47 ए]

(18) स्वीकृति के बिना न्यायालय में आरोप-पत्र दायर किया जाना अपने-आप में अवैध नहीं है और न ही यह कोई पूर्व शर्त है। अपराध का संज्ञान लेने से पूर्व किसी भी समय सक्षम प्राधिकारी को स्वीकृति प्रदान करने का अधिकार है और अभियोजन को स्वीकृति आदेश प्रस्तुत करने का अधिकार है। [47 ई]

यू. पी. राज्य बनाम आर. के. जोशी, [1964] 3 एस. सी. आर. 71, संदर्भित।

(19) अपराध के होने के प्रथम दृष्टया साक्ष्य के अस्तित्व के लिए दिमाग का उचित अनुप्रयोग मंजूरी देने या देने से इनकार करने के लिए केवल एक पूर्व शर्त है। उस स्तर पर लोक सेवक को अवसर देने का सवाल ही नहीं उठता। [47 बी]

(20) स्वीकृति आदेश के अवलोकन से स्पष्ट संकेत मिलता है कि सरकार ने उसके समक्ष रखे गए तथ्यों पर विचार किया, उनका मूल्यांकन किया और तत्पश्चात स्वीकृति प्रदान की। [47 ई]

(21) सक्षम सरकार द्वारा पूर्व स्वीकृति लोक सेवक को यह आश्वासन देती है कि वह बिना भय या पक्षपात, बाद की उत्पीड़न एवं प्रताड़ना की आशंका के बिना, अपने शासकीय कर्तव्यों का परिश्रमपूर्वक, दक्षतापूर्वक और ईमानदारी से निर्वहन कर सके, जिससे वह जनहित में अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान दे। [45 जी]

*सिराजुद्दीन बनाम मद्रास राज्य*, [1970] 2 एस. सी. आर. 931, संदर्भित।

(22) किसी लोक सेवक को तभी यह कहा जा सकता है कि उसने अपने शासकीय कर्तव्य के निर्वहन में कार्य किया या करने का दावा किया, जब उसका कार्य या चूक उसके शासकीय कर्तव्य के दायरे में आती हो। लोक सेवक द्वारा किया गया प्रत्येक अपराध अभियोजन हेतु स्वीकृति की मांग नहीं करता, और न ही उसके द्वारा शासकीय कर्तव्य के रंग में किया गया प्रत्येक कार्य अभियोजन से संरक्षण प्राप्त करता है। [46 बी]

आपत्तिजनक कार्य का कर्तव्य-निर्वहन से अभिन्न रूप से जुड़ा होना आवश्यक है; वह काल्पनिक या दिखावटी नहीं होना चाहिए। [45 जी]

*के. सतवंत सिंह बनाम पंजाब राज्य*, [1960] 2 एससीआर 89; *हरिहर प्रसाद बनाम बिहार राज्य*, [1972] 3 एससीआर 89 और *एस. बी. साहा बनाम कोचर*, [1980] 1 एससीसी 111।

(23) स्वीकृति प्रदान करने से पूर्व प्राधिकारी या सक्षम सरकार के समक्ष आवश्यक प्रतिवेदन तथा वे भौतिक तथ्य होने चाहिए जो आरोपित अपराध के किए जाने को *प्रथमदृष्टया* स्थापित करते हों, और सक्षम सरकार द्वारा उन तथ्यों पर समुचित मनन किया जाना चाहिए। [46 जी]

आपराधिक अपीलीय क्षेत्राधिकार: 1990 की आपराधिक अपील सं 527-28

पटना उच्च न्यायालय के दिनांक 5.4.1990 के निर्णय एवं आदेश से, जो कि आ. डब्ल्यू.जे.सी. सं. 90 एवं 228/ 1989 में पारित हुआ।

के साथ

आपराधिक अपील संख्या 523-248 , 525-26 / 90 .

अपीलार्थियों की ओर से कपिल सिब्बल, अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल, पी. पी. राव, पी. के. शाही, श्रीमती विमला सिन्हा, यूनुस मल्ली, विकास सिंह और एल. आर. सिंह ने भाग लिया।

उत्तरदाताओं के लिए डॉ. शंकर घोष, आर. के. जैन, राकेश के. खन्ना, सूर्यकांत, राजन महापात्रा, श्रीमती संगीता त्रिपाठी मंडल, सुश्री आभा शर्मा, डॉ. एस. झा और आर. पी. गुप्ता।

न्यायालय का निर्णय दिया गया था।

**कुलदिप सिंह, न्यायमूर्ति** बिहार राज्य सहकारी विपणन संघ लिमिटेड (बीआईएसकोमाउन) (जिसे आगे 'बीआईएससीओ' कहा गया है) बिहार राज्य में कार्यरत एक शीर्ष संस्था है। यह सहकारी समितियों का एक महासंघ है और इसका मुख्य कार्य राज्य भर में स्थित लगभग 550 डिपो एवं गोदामों के माध्यम से किसानों को उर्वरक की आपूर्ति करना है।

श्री पी.पी. शर्मा, आई.ए.एस. ने 26 मई, 1986 को बीआईएससीओ के प्रबंध निदेशक के रूप में कार्यभार ग्रहण किया और 14 जून, 1987 तक उक्त पद पर बने रहे। 31 दिसंबर, 1986 से 14 जून, 1987 तक वे बिहार सरकार के सहकारिता विभाग के सचिव तथा बिहार राज्य के सहकारी समितियों के निबंधक भी थे। जी.डी. मिश्रा वर्ष 1986-88 के दौरान बीआईएससीओ के सलाहकार के रूप में कार्यरत थे। उन्होंने 3 अगस्त,

1988 को उक्त पद से त्यागपत्र दे दिया। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त अवधि के दौरान तपेश्वर सिंह बीआईएससीओ के अध्यक्ष थे।

मेसर्स राजस्थान मल्टी फर्टिलाइजर प्राइवेट लिमिटेड, उदयपुर, राजस्थान (जिसे आगे 'फर्म' कहा गया है) के पास बिहार के कृषि निदेशक द्वारा 8 अगस्त, 1985 को जारी किया गया पंजीकरण प्रमाण-पत्र था। यह आरोप है कि फर्म द्वारा 19 अगस्त, 1986 को बीआईएससीओ के प्रबंध निदेशक को एक पत्र भेजा गया, जिसमें निर्दिष्ट श्रेणी एवं गुणवत्ता का उर्वरक ₹2550 प्रति एम.टी. की दर से, स्थानीय करों के अतिरिक्त, आपूर्ति करने का प्रस्ताव दिया गया था। यह भी उल्लेखनीय है कि बिहार राज्य सरकार ने 14 जुलाई, 1984 को एक अधिसूचना जारी कर विभिन्न श्रेणियों के उर्वरकों के मूल्य निर्धारित किए थे। उक्त अधिसूचना के अंतर्गत फर्म द्वारा प्रस्तावित श्रेणी का मूल्य ₹2559 प्रति एम.टी. निर्धारित था। फर्म ने 5 अक्टूबर, 1986 को एक और पत्र भेजकर अपने पूर्व प्रस्ताव को दोहराया। फर्म के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया और 22 नवंबर, 1986 को जी.डी. मिश्रा ने फर्म को 2500 एम.टी. उर्वरक (एनपीके 15: 15:71/2) की आपूर्ति का आदेश ₹2509.50 प्रति एम.टी. की दर से दिया। इसके पश्चात 19 दिसंबर, 1986 को जी.डी. मिश्रा द्वारा उसी शर्तों पर अतिरिक्त 408 एम.टी. उर्वरक की आपूर्ति का एक और आदेश दिया गया। फर्म ने कुल 2916 एम.टी. उर्वरक बीआईएससीओ को आपूर्ति किया। फर्म को देय कुल मूल्य ₹73,16,244 था। 18 दिसंबर, 1986 को ₹23.02 लाख का भुगतान किया गया। इसके पश्चात 22 जनवरी, 1987 को ₹30.96 लाख का भुगतान किया गया। इस प्रकार फर्म को कुल लगभग ₹54 लाख का भुगतान किया गया। फर्म द्वारा आपूर्ति किए गए उर्वरक के नमूनों की जाँच बीआईएससीओ द्वारा राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा से कराई गई, जिनमें वे मानक पाए गए।

यह पक्षकारों द्वारा स्वीकार किया गया तथ्य है कि फर्म द्वारा आपूर्ति किया गया उर्वरक किसानों को बेचा नहीं जा सका और बड़ी मात्रा में स्टॉक लंबे समय तक बीआईएससीओ के गोदामों में पड़ा रहा। बीआईएससीओ अपने दो कारखानों में "हराभर" ब्रांड का उर्वरक निर्मित कर रहा था। अंततः बीआईएससीओ द्वारा यह निर्णय लिया गया कि फर्म द्वारा आपूर्ति किया गया तथा गोदामों में बिना बिके पड़ा उर्वरक "हराभर" उर्वरक के निर्माण हेतु कच्चे माल के रूप में उपयोग किया जाए। तत्पश्चात उक्त उर्वरक को बीआईएससीओ के विभिन्न गोदामों से उसके दो कारखानों में "हराभर" में रूपांतरण हेतु स्थानांतरित किया गया।

राज्य प्रयोगशाला, मीठापुर से प्राप्त प्रतिवेदनों में फर्म द्वारा आपूर्ति किया गया उर्वरक घटिया स्तर का पाया गया। परीक्षण हेतु प्रयोगशाला भेजे गए अधिकांश नमूने अमानक पाए गए। यह आरोप है कि जी.डी. मिश्रा ने बीआईएससीओ की ओर से 13 अक्टूबर, 1987 को फर्म को एक पत्र लिखकर उसमें उल्लिखित आठ डिपो से घटिया स्तर के उर्वरक को वापस लेने का अनुरोध किया।

श्री आर.के. सिंह, आई.ए.एस. ने 29 दिसंबर, 1988 को बीआईएससीओ के प्रबंध निदेशक के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। राज्य सरकार के 30 जुलाई, 1988 के आदेश द्वारा बीआईएससीओ का प्रबंधन अधिगृहीत कर लिया गया था और आर.के. सिंह को प्रशासक नियुक्त किया गया था।

1 सितंबर, 1988 को आर.के. सिंह ने थाना प्रभारी, गांधी मैदान थाना, पटना को एक लिखित प्रतिवेदन भेजी, जिसके आधार पर भारतीय दंड संहिता की धारा 409, 420, 468, 469, 471, 120बी तथा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 7 के अंतर्गत तपेश्वर सिंह, पी.पी. शर्मा तथा जी.डी. मिश्रा सहित आठ व्यक्तियों के विरुद्ध एक मामला दर्ज किया

गया। अन्य चार अभियुक्त फर्म के निदेशक हैं और पाँचवें अभियुक्त पर यह आरोप है कि उसने राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा द्वारा दिए गए परीक्षण प्रतिवेदन को जाली बनाया। यहाँ प्रथम सूचना प्रतिवेदन (जिसे आगे 'प्राथमिकी' कहा गया है) को उद्धृत करना उपयोगी होगा, जो इस प्रकार है:—

" प्रथम सूचना प्रतिवेदन

बिहार राज्य सहयोगात्मक विपणन यूनियन लिमिटेड बिसकोमन भवन, पश्चिम गांधी मैदान, पटना-800001।

1.9.1988

संदर्भ सं. एडी/सी-70

प्रभारी अधिकारी, पटना कोतवाली थाना

बीआईएसकोमाउन सहकारिता क्षेत्र की एक संस्था है और इसकी मुख्य व्यावसायिक गतिविधियों में उर्वरकों की खरीद तथा उन्हें अपने डिपो के माध्यम से राज्य के किसानों को विक्रय करना शामिल है। इसके दो कारखाने हैं—एक तिलरथ में तथा दूसरा जसीडीह में—जहाँ मिश्रित उर्वरक का उत्पादन किया जाता है। उक्त उर्वरक 'हराभर' ब्रांड नाम से विपणन किया जाता है।

बीआईएसकोमाउन के विभिन्न गोदामों में पड़े उर्वरकों के भंडार तथा कारखानों में कच्चे माल की स्थिति की जाँच के दौरान यह पाया गया कि 'सूरज ब्रांड एन.पी.के.' मिश्रित उर्वरक की भारी मात्रा बिना बिके बीआईएसकोमाउन के डिपो में पड़ी हुई थी, जिसे बीआईएसकोमाउन के उर्वरक कारखानों में 'हराभर' (मिश्रित उर्वरक) के निर्माण में कच्चे माल के रूप में उपयोग हेतु भेजा जा रहा था। संबंधित फाइलों के अवलोकन से यह तथ्य

सामने आया कि 'सूरज ब्रांड एन.पी.के.' की खरीद एक निजी फर्म, अर्थात् मेसर्स राजस्थान मल्टी फर्टिलाइजर प्राइवेट लिमिटेड, उदयपुर (राजस्थान) से की गई थी। संबंधित अभिलेखों से यह भी स्पष्ट है कि उक्त फर्म से 'सूरज ब्रांड एन.पी.के.' की खरीद तथा उसके 'हराभर' के निर्माण में उपयोग से संबंधित संपूर्ण लेन-देन कपटपूर्ण था तथा यह मेसर्स राजस्थान मल्टी फर्टिलाइजर प्राइवेट लिमिटेड तथा बीआईएसकोमाउन के तत्कालीन अध्यक्ष श्री तपेश्वर सिंह और कुछ ऐसे अधिकारियों को, जो उक्त घटिया स्तर के उर्वरक की खरीद के लिए उत्तरदायी थे, अनुचित लाभ पहुँचाने तथा संस्था एवं बिहार राज्य के किसानों को अनुचित हानि पहुँचाने के लिए रची गई एक साजिश थी। संक्षेप में तथ्य इस प्रकार हैं:—

उक्त फर्म मेसर्स राजस्थान मल्टी फर्टिलाइजर प्राइवेट लिमिटेड ने बीआईएसकोमाउन के अध्यक्ष को एक पत्र लिखा, जिसके साथ बीआईएसकोमाउन के प्रबंध निदेशक को भेजे गए अपने पूर्व पत्र की प्रति संलग्न थी। उसमें यह कहा गया था कि वे 'सूरज ब्रांड एन.पी.के. (15: 15: 71/2)' मिश्रित उर्वरक का निर्माण करते हैं और उन्हें बीआईएसकोमाउन को उसकी आपूर्ति हेतु आदेश दिए जाने का अनुग्रह किया जाए। उन्होंने विक्रय दर ₹2550 प्रति एम.टी. प्लस कर उद्धृत की। यह पत्र कार्यालय में सामान्य प्रक्रिया के अनुसार प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि सीधे तत्कालीन अध्यक्ष को सौंपा गया। यह भी उल्लेखनीय है कि यह पत्र बीआईएसकोमाउन द्वारा निविदा आमंत्रित करने हेतु जारी किसी विज्ञापन के प्रत्युत्तर में नहीं था।

अध्यक्ष ने इस पत्र पर अनुमोदन कर इसे प्रबंध निदेशक को अग्रसारित किया। इस पत्र को सामान्य प्रक्रिया के अंतर्गत परीक्षण हेतु कार्यालय स्तर तक आने नहीं दिया गया। इस पत्र पर तत्कालीन सलाहकार (पुनर्वास) श्री जी.डी. मिश्रा ने अपने स्तर पर ही फाइल प्रारंभ की और उक्त फर्म से उर्वरक की खरीद के लिए अपने स्तर से ही एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने टिप्पणी-पत्र में उल्लेख किया कि खरीद का प्रश्न उनके, अध्यक्ष तथा प्रबंध निदेशक के बीच विचार-विमर्श का विषय रहा है। इससे यह स्पष्ट है कि खरीद का प्रस्ताव उस विचार-विमर्श के अनुसरण में प्रस्तुत किया गया, जब खरीद का आदेश देने के लिए पहले ही मस्तिष्कों का मिलन हो चुका था। संगठन में किसी अन्य को इस प्रस्ताव के संबंध में विश्वास में नहीं लिया गया। यहाँ तक कि वित्त विभाग की सलाह भी प्राप्त नहीं की गई।

सलाहकार (पुनर्वास) श्री जी.डी. मिश्रा द्वारा प्रारंभित इस प्रस्ताव को तत्कालीन प्रबंध निदेशक श्री पी.पी. शर्मा ने अध्यक्ष की स्वीकृति हेतु अनुमोदित किया और अध्यक्ष द्वारा इस प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान की गई।

"न तो कोई निविदाएँ आमंत्रित की गईं और न ही समान प्रकार के उर्वरक के प्रतिस्पर्धी मूल्यों का पता लगाने के लिए कोई कदम उठाया गया। यहाँ तक कि क्रय आदेश जारी करने से पूर्व उर्वरक की गुणवत्ता की भी जाँच नहीं की गई। यह संपूर्ण कार्य अत्यधिक हड़बड़ी में किया गया।"

यह प्रस्ताव 20.11.1986 को स्वीकार किया गया और सलाहकार (पुनर्वास) ने अपने पत्र दिनांक 22.11.1986 के माध्यम से फर्म को 2500 मीट्रिक टन उर्वरक की आपूर्ति हेतु आदेश जारी किया।

क्रय की एक शर्त यह थी कि उक्त उर्वरक में पोषक तत्वों का अनुपात 15:15:71/2 होगा और यदि यह पाया जाता है कि पोषक तत्वों का मूल्य इससे कम है, तो खेप अस्वीकृत कर दी जाएगी। रासायनिक परीक्षण या तो बीआईएसकोमाउन की प्रयोगशाला में अथवा राज्य/केंद्र सरकार द्वारा अनुमोदित किसी अन्य प्रयोगशाला में किया जाना था। इस शर्त के विपरीत, कहा जाता है कि उर्वरक का रासायनिक परीक्षण डॉ. एस.एन. झा, एसोसिएट प्रोफेसर, मृदा विज्ञान, राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय द्वारा किया गया। अभिलेखों से यह भी स्पष्ट नहीं है कि नमूने किसके द्वारा एकत्र किए गए और उक्त विशेषज्ञ को भेजे गए। उर्वरक नियंत्रण आदेश, 1957 के अनुसार, नमूने राज्य सरकार के उर्वरक निरीक्षकों द्वारा एकत्र किए जाने चाहिए तथा विश्लेषण राज्य/केंद्र सरकार की प्रयोगशाला में किया जाना चाहिए। डॉ. झा ने प्रतिवेदन दी कि उनके द्वारा विश्लेषित नमूने उचित श्रेणी और मानक के थे तथा उनमें 15 : 15 : 71/2 के अनुपात में पोषक तत्व विद्यमान थे।

उक्त उर्वरक को बीआईएसकोमाउन के विभिन्न डिपो में वितरित किया गया। 2500 मीट्रिक टन की खरीद के निर्णय के विरुद्ध, तत्कालीन सलाहकार (पुनर्वास) श्री जी.डी. मिश्रा ने फर्म को 2916 मीट्रिक टन की प्रेषण निर्देश जारी किए। यह उल्लेखनीय है कि उक्त राजस्थान मल्टी फर्टिलाइजर प्राइवेट लिमिटेड के पास बिहार में अपने उत्पाद की बिक्री हेतु आवश्यक वस्तु अधिनियम के अंतर्गत कोई आवंटन नहीं था। इसके बावजूद, बीआईएसकोमाउन के प्रबंधन ने इस कंपनी से उर्वरक की आपूर्ति हेतु आदेश दिए।

जब उर्वरक की बिक्री प्रारंभ हुई, तो सामान्य प्रक्रिया के अंतर्गत विभिन्न डिपो से नमूने राज्य भर में कृषि विभाग के अधिकारियों, अर्थात् उर्वरक निरीक्षकों द्वारा लिए गए और रासायनिक परीक्षण हेतु अधिकृत प्रयोगशालाओं में भेजे गए। विश्लेषण से यह उजागर हुआ कि उक्त उर्वरक मिलावटी तथा घटिया स्तर का था और उसमें पोषक तत्वों का अभाव था। रासायनिक विश्लेषण के परिणामों की प्रतियाँ संलग्न हैं। नमूने बीआईएसकोमाउन के बेनीबाद, गंगइया, बोचहा, ढोली, सकरा, मीनापुर (सभी मुजफ्फरपुर), बिहटा, बख्तियारपुर, करबिगहिया (पटना) तथा जहानाबाद के डिपो से लिए गए थे।

क्रय की शर्तों के अनुसार, उक्त मिलावटी उर्वरक को निर्माता द्वारा अपने खर्च पर वापस लिया जाना था। तदनुसार, तत्कालीन सलाहकार (पुनर्वास) ने फर्म को पत्र लिखकर निर्देश दिया कि निम्नलिखित डिपो से उक्त उर्वरक वापस लिया जाए— अरवल, मीनापुर, सकरा, ढोली, बेनीबाद, गंगइया तथा बिहटा। यह उल्लेखनीय है कि जहाँ-जहाँ से उर्वरक के नमूनों का विश्लेषण किया गया, वे सभी घटिया स्तर के पाए गए। अतः स्वाभाविक अनुमान यह था कि उक्त उर्वरक की पूरी खेप मिलावटी थी। इसलिए या तो पूरी खेप वापस की जानी चाहिए थी अथवा पूरी खेप का परीक्षण किया जाना चाहिए था। इसके विपरीत, केवल उन्हीं डिपो से उर्वरक वापस लेने का निर्देश दिया गया, जहाँ से नमूने लिए गए थे। यह सलाहकार (पुनर्वास) श्री जी.डी. मिश्रा की ओर से एक *दुर्भावनापूर्ण* कृत्य था, जिसका उद्देश्य आपूर्तिकर्ता को अनुचित लाभ पहुँचाना तथा बीआईएसकोमाउन एवं बिहार राज्य के किसानों को अनुचित हानि पहुँचाना था। वास्तव में, उन्होंने उन डिपो से, जहाँ से नमूने नहीं लिए गए थे, किसानों को मिलावटी एवं घटिया स्तर का उर्वरक बेचने की अनुमति दी।

भुगतान करने में अनुचित शीघ्रता बरती गई। उक्त राजस्थान मल्टी-फर्टिलाइजर्स प्रा. लि. को दिनांक 17.12.1986 के स्वीकृति आदेश के अनुसार रुपये 23.02 लाख का भुगतान किया गया। यह भुगतान इस तथ्य के बावजूद जारी किया गया कि चालान सं. 206 तथा 209 में डिपो प्रबंधक द्वारा यह इंगित किया गया था कि उर्वरक दानेदार (ग्रैन्युलेटेड) रूप में नहीं थे तथा बोरियाँ मानक के अनुरूप नहीं थीं। दिसंबर-जनवरी, 1986-87 में पुनः भुगतान का एक और प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। पुनः लेखाकार द्वारा यह आपत्ति उठाई गई कि परीक्षण प्रतिवेदन प्राप्त नहीं हुआ है। यह भी पुनः इंगित किया गया कि आपूर्ति अमानक बोरियों में की गई थी। इसके बावजूद सलाहकार (पुनर्वास) श्री जी.डी. मिश्रा ने इन आपत्तियों को अस्वीकार कर प्रबंध निदेशक को न केवल रुपये 13.07 लाख के उक्त बिल का भुगतान करने की, बल्कि रुपये 12.03 लाख तथा रुपये 5.83 लाख के उन दो बिलों का भी भुगतान करने की अनुशंसा की, जिनकी लेखा विभाग द्वारा जाँच भी नहीं की गई थी। यह जनवरी, 1987 में किया गया। इस प्रकार वास्तव में उर्वरक कंपनी को जनवरी, 1987 में ही रुपये 23.02 + रुपये 30.94 लाख का भुगतान कर दिया गया। कुल मिलाकर, कुल बिल (कमी घटाने के पश्चात) रुपये 65,53,642.11 में से रुपये 53,97,277.32 कंपनी को भुगतान कर दिए गए।

उर्वरक के अमानक होने संबंधी प्रतिवेदनों मई, 1987 से आनी प्रारंभ हुईं। 2 मई, 1987 को पीईओ, बिहटा ने सूचित किया कि रासायनिक विश्लेषण में उक्त 'सूरज ब्रांड' उर्वरक अमानक पाया गया है। 1 जून, 1987 को कृषि निदेशक ने बीआईएसकोमाउन को पत्र लिखकर सूचित किया कि मिनापुर, बिहटा, अरवल तथा सकरा से लिए गए उक्त उर्वरक के नमूने अमानक तथा नकली पाए गए हैं।

18.5.1987 को क्षेत्रीय अधिकारी, बीआईएसकोमाउन, गया ने यह प्रतिवेदन दिया कि अरवल डिपो से कृषि अधिकारी द्वारा लिया गया तथा परीक्षण किया गया नमूना नकली है।

जब राज्य प्रयोगशाला से रासायनिक विश्लेषण की प्रतिवेदनों आने लगीं और यह पाया गया कि उक्त उर्वरक नकली तथा अमानक है, तब बीआईएसकोमाउन के तत्कालीन प्रबंधन ने निर्माता को वापस लौटाने तथा भुगतान की गई राशि की वसूली करने के स्थान पर उक्त नकली उर्वरक को खपा देने की साजिश रची।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, क्रय की शर्तों के अनुसार 'सूरज ब्रांड' का संपूर्ण उर्वरक कंपनी को वापस किया जाना चाहिए था और धनवापसी ली जानी चाहिए थी। इसके विपरीत, कंपनी को अनुचित लाभ तथा बीआईएसकोमाउन और तत्कालीन प्रबंधन को, साथ ही राज्य के किसानों को अनुचित हानि पहुँचाने के उद्देश्य से तथा नकली उर्वरक के भंडार के साक्ष्य को नष्ट करने हेतु, बीआईएसकोमाउन के तत्कालीन प्रबंधन ने तिलरथ तथा जसीडीह स्थित बीआईएसकोमाउन की दो फैक्ट्रियों में पुराने उर्वरक भंडार के पुनःप्रसंस्करण का निर्णय लिया। बोर्ड के समक्ष यह प्रस्ताव रखा गया कि बीआईएसकोमाउन डिपो में उपलब्ध वह उर्वरक, जो अत्यंत पुराना है और जिसे बेचना कठिन है, इन दो फैक्ट्रियों में 'हराभर' के निर्माण हेतु उपयोग किया जाए। यह प्रस्ताव मार्च, 1987 में बोर्ड के समक्ष रखा गया और बोर्ड ने इसे स्वीकृति प्रदान की।

यह उल्लेखनीय है कि बोर्ड ने केवल पुराने भंडार के पुनःप्रसंस्करण के प्रस्ताव को ही स्वीकृति दी थी और चूँकि सूरज ब्रांड का भंडार पुराना नहीं था, अतः अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु मई, 1987 में कार्यकारी समिति के समक्ष यह प्रस्ताव रखा गया

कि डिपो में उपलब्ध समस्त भंडार का पुनःप्रसंस्करण किया जाए, जिसे स्वीकृति दे दी गई। कार्यकारी समिति निदेशक मंडल द्वारा लिए गए निर्णय में संशोधन नहीं कर सकती थी। 'सूरज ब्रांड' उर्वरक को पुराना भंडार नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि इसका क्रय केवल दिसंबर, 1986 में किया गया था। इसके अतिरिक्त, जैसे ही राज्य प्रयोगशाला द्वारा उर्वरक के अमानक सिद्ध हो जाने की पुष्टि हुई, बीआईएसकोमाउन को कंपनी से भुगतान की गई राशि की वसूली कर लेनी चाहिए थी।

तथापि, कार्यकारी समिति के उक्त निर्णय के आधार पर बीआईएसकोमाउन के प्रबंधन ने पुराने उर्वरक भंडार के साथ-साथ 'सूरज ब्रांड' उर्वरक को भी दो फैक्ट्रियों में स्थानांतरित करना प्रारंभ कर दिया, ताकि उसे 'हराभर' में परिवर्तित कर खपाया जा सके। यह उल्लेखनीय है कि 2900 मीट्रिक टन में से 2500 मीट्रिक टन जून, 1987 तक अविक्रीत रहा। जो भंडार नकली एवं अमानक सिद्ध हो चुका था, उसे तिलरथ तथा जसीडीह स्थित बीआईएसकोमाउन की फैक्ट्रियों में 'हराभर' में परिवर्तित करने हेतु भेज दिया गया। बेनीपाड़ा, बोचहा, गंगईया (मुजफ्फरपुर) से प्राप्त 'सूरज ब्रांड' सामग्री, जहाँ से नमूने लिए गए थे और उर्वरक नकली सिद्ध हुआ था, उसे भी फैक्ट्रियों में स्थानांतरित कर दिया गया। यह स्पष्ट है कि संपूर्ण पुनःप्रसंस्करण की यह योजना राजस्थान मल्टी-फर्टिलाइजर्स प्रा. लि. को अवैध लाभ पहुँचाने तथा संबंधित व्यक्तियों को व्यक्तिगत अवैध लाभ दिलाने की आपराधिक साजिश थी, जिसके द्वारा उनके द्वारा आपूर्ति किए गए नकली एवं अमानक उर्वरकों को खपाया गया, जिससे बीआईएसकोमाउन तथा राज्य के किसानों को गंभीर क्षति पहुँची। इतना ही नहीं, उपर्युक्त गंभीर अपराधों के साथ-साथ उर्वरक नियंत्रण आदेश,

1957 के प्रावधानों का भी उल्लंघन किया गया, क्योंकि नकली एवं अमानक उर्वरकों की आपूर्ति की गई।

अतः उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन अध्यक्ष श्री तपेश्वर सिंह, प्रबंध निदेशक श्री बी.पी. शर्मा तथा श्री जी.डी. मिश्रा ने राजस्थान मल्टी-फर्टिलाइजर्स प्रा. लि. के निदेशकों—श्री ओ.पी. अग्रवाल, श्री नारायण लाल अग्रवाल, श्री बंशी लाल अग्रवाल तथा श्री गोपाल लाल अग्रवाल—के साथ आपराधिक षड्यंत्र किया और इस प्रकार बीआईएसकोमाउन से रुपये 53,97,277.32 की ठगी की गई।

आरोपी व्यक्तियों तपेश्वर सिंह एवं पी.पी. शर्मा ने 29 सितंबर, 1988 को पटना उच्च न्यायालय में रिट याचिका सं. 289/1988 दायर कर प्रथम सूचना प्रतिवेदन को अभिखंडित किए जाने की प्रार्थना की। याचिकाकर्ताओं के अधिवक्ता के अनुरोध पर याचिका विभिन्न तिथियों पर स्थगित होती रही। इस बीच पुलिस द्वारा विवेचना पूर्ण कर ली गई और अक्टूबर, 1988 में सक्षम न्यायालय के समक्ष दो पुलिस प्रतिवेदन प्रस्तुत किए गए— एक आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 7 के अंतर्गत तथा दूसरा भारतीय दंड संहिता की विभिन्न धाराओं के अंतर्गत। विशेष न्यायाधीश, पटना ने 9 जनवरी, 1989 से 31 जनवरी, 1989 के बीच विभिन्न तिथियों पर यह विचार किया कि पुलिस प्रतिवेदनों में वर्णित अपराधों का संज्ञान लेने हेतु पर्याप्त सामग्री है या नहीं। 31 जनवरी, 1989 को विद्वान विशेष न्यायाधीश ने बहस समाप्त कर आदेश सुरक्षित रख लिया।

तपेश्वर सिंह ने 17 फरवरी, 1989 को उच्च न्यायालय में आपराधिक विविध याचिका दायर की, जिस पर उच्च न्यायालय ने विशेष न्यायाधीश, पटना की न्यायालय में आगे की कार्यवाही पर स्थगनादेश पारित कर दिया। पी.पी. शर्मा ने 17 मार्च, 1989 को पटना उच्च न्यायालय में रिट याचिका सं. 90/1989 दायर कर प्रथम सूचना प्रतिवेदन

तथा पुलिस प्रतिवेदनों को अभिखंडित किए जाने की प्रार्थना की। उच्च न्यायालय ने 31 मार्च, 1989 को उक्त याचिका स्वीकार कर अधीनस्थ न्यायालय में आगे की कार्यवाही पर रोक लगा दी। 6 जुलाई, 1989 को पी.पी. शर्मा ने रिट याचिका सं. 289/1988 वापस ले ली। जी.डी. मिश्रा ने 23 अगस्त, 1989 को रिट याचिका सं. 228/1989 दायर की, जिसे रिट याचिका सं. 90/1989 के साथ सुनवाई हेतु आदेशित किया गया। तपेश्वर सिंह ने रिट याचिका सं. 289/1989 वापस ले ली।

उच्च न्यायालय ने रिट याचिका सं. 90 एवं 228/1989 में 1 नवंबर, 1989 से 8 फरवरी, 1990 तक बहस सुनी। न्यायपीठ, जिसमें एस.एच.एस. अब्दी तथा एस. होदा, न्यायाधीश सम्मिलित थे, ने 5 अप्रैल, 1990 के निर्णय द्वारा रिट याचिकाओं को स्वीकार करते हुए प्राथमिकी तथा अभियुक्त-याचिकाकर्ताओं के विरुद्ध आपराधिक कार्यवाही को अभिखंडित कर दिया। ये अपीलें विशेष अनुमति याचिकाओं के माध्यम से उच्च न्यायालय के उक्त निर्णय के विरुद्ध दायर की गई हैं। आपराधिक अपील सं. 525-26/90 में श्री गिरिजा नंदन शर्मा, पुलिस अधीक्षक, सी.आई.डी., पटना (विवेचना अधिकारी) तथा आपराधिक अपील सं. 523-24/90 में श्री आर.के. सिंह (सूचक) भी बिहार राज्य के साथ अपीलकर्ता हैं।

अपीलकर्ताओं की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री पी.पी. राव तथा श्री कपिल सिब्बल ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि उच्च न्यायालय ने अपनी असाधारण अधिकार-क्षमता का प्रयोग करते हुए रिट याचिकाओं के साथ दायर शपथपत्रों एवं दस्तावेजों पर विचार कर गंभीर विधिक त्रुटि की। यह कहा गया कि उच्च न्यायालय ने पुलिस द्वारा प्रस्तुत आरोप-पत्रों (पुलिस प्रतिवेदनों) के विपरीत निष्कर्ष निकालते हुए वस्तुतः दंडाधिकारी/विशेष न्यायाधीश के अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण किया। विद्वान

अधिवक्ताओं का यह भी तर्क था कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 के अंतर्गत दो पुलिस प्रतिवेदन पहले ही न्यायालय में प्रस्तुत किए जा चुके थे और विशेष न्यायाधीश पक्षकारों की लंबी सुनवाई के पश्चात संज्ञान के प्रश्न पर आदेश सुरक्षित रख चुके थे। अतः जिस अवस्था में विशेष न्यायाधीश प्रकरण पर विचाराधीन थे, उस अवस्था में उच्च न्यायालय द्वारा कार्यवाही अभिखंडित किया जाना उचित नहीं था।

विद्वान अधिवक्ताओं ने प्राथमिकी तथा पुलिस प्रतिवेदनों में उद्धाटित अन्य सामग्री की ओर ध्यान आकर्षित कर यह दर्शाया कि उत्तरदाताओं के विरुद्ध *प्रथम दृष्टया* अपराध बनता है। यह भी तर्क दिया गया कि यदि उपर्युक्त दस्तावेजों में किए गए आरोपों को सही माना जाए, तो वे उत्तरदाताओं द्वारा संज्ञेय अपराध किए जाने का प्रकटीकरण करते हैं।

पक्षकारों के विद्वान अधिवक्ताओं ने हमें उच्च न्यायालय के उस निर्णय से अवगत कराया, जो लगभग दो सौ पृष्ठों में विस्तृत है। *आर.पी. कपूर बनाम पंजाब राज्य*, [1960] 3 एस सी आर 388 में इस न्यायालय ने बहुत पहले ही उच्च न्यायालयों की उस अधिकार-सीमा को परिभाषित कर दिया था, जिसके अंतर्गत वे किसी प्रकरण में आपराधिक कार्यवाही को अभिखंडित कर सकते हैं। इस विषय पर विधि पूर्णतः स्पष्ट है और किसी भी प्रकार की अस्पष्टता की कोई गुंजाइश नहीं है। उच्च न्यायालय ने इस न्यायालय के अनेक निर्णयों का उल्लेख करते हुए उनसे विस्तृत उद्धरण दिए, फिर भी वह स्थापित विधिक स्थिति को समझने में विफल रहा। उच्च न्यायालय ने गंभीर त्रुटि की और प्रत्यक्ष अवैधता के साथ आपराधिक कार्यवाही को उन निष्कर्षों के आधार पर अभिखंडित कर दिया, जो पूर्णतः भटकावपूर्ण हैं।

उच्च न्यायालय ने उत्तरदाताओं द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत किए गए दस्तावेजों का मूल्यांकन करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले:—

1. अनुलग्नक 3, 4, 5, 6, 7, 11, 15, 16, 17, 18, 19, 20, 21/1, 22, 22/1, 24, 25, 26 तथा 39 (आगे "अनुलग्नक" कहे गए), जो रिट याचिकाओं के साथ अनुलग्नक के रूप में उच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए गए थे, अन्वेषण अधिकारी द्वारा विचार में नहीं लिए गए। अनुलग्नकों के मूल्यांकन पर यह पाया गया कि उत्तरदाताओं के विरुद्ध कोई प्रथमदृष्टया अपराध नहीं बनता।
2. सूचक आर.के. सिंह उत्तरदाताओं के प्रति पक्षपाती था। यह पाया गया कि "अनुलग्नक", जो बीआईएसकोमाउन के अभिलेखों का हिस्सा थे, आर.के. सिंह के संज्ञान में थे; उसने इन दस्तावेजों में निहित तथ्यों की उपेक्षा की और उत्तरदाताओं के विरुद्ध असत्य तथ्यों के आधार पर प्राथमिकी दर्ज कराते समय दुर्भावनापूर्ण आचरण किया।
3. अभियोजन दूषित था क्योंकि अन्वेषण अधिकारी श्री जी.एन. शर्मा ने "अनुलग्नक" पर विचार करने से इनकार करते हुए दुर्भावना से कार्य किया
4. पी.पी. शर्मा के संबंध में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत स्वीकृति प्रदान करने वाला आदेश अवैध था।
5. पुलिस प्रतिवेदन एवं अभिलेख पर उपलब्ध अन्य दस्तावेजों से आवश्यक वस्तु अधिनियम के अंतर्गत कोई मामला नहीं बनता।

उत्तरदाताओं के विरुद्ध कोई प्रथमदृष्टया अपराध नहीं बनता—यह निष्कर्ष उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित तर्क के आधार पर निकाला:—

"हम भारत में न्यायालयों द्वारा दिए गए विधिक प्रतिपादनों तथा विधिक स्थिति के प्रति सदैव सचेत हैं कि विवादित तथ्यात्मक प्रश्नों का निर्णय

शपथपत्रों के आधार पर नहीं किया जा सकता। किन्तु जब कुछ दस्तावेज़ अभिलेख पर लाए गए हैं जो आधिकारिक अभिलेख हैं, जो बीआईएसकोमाउन के कब्जे में थे और इस प्रकार स्वयं सूचक के कब्जे में भी थे; और जब प्रत्युत्तरों में न तो सूचक, न ही अन्वेषण अधिकारी और न ही राज्य सरकार के किसी अधिकारी ने उन दस्तावेज़ी सामग्रियों की शुद्धता को चुनौती दी है, तब वे वर्तमान में अविवादित हैं। और जब विपक्षी पक्ष के विद्वान अधिवक्ता के तर्कों तथा प्रस्तुत टिप्पणियों से यह प्रतीत होता है कि अनुलग्नक 1, 2, 9, 10, 12 तथा 13 पर अन्वेषण अधिकारी द्वारा विचार किया गया और वे अन्वेषण अभिलेख का हिस्सा बने—अनुलग्नक-1 को छोड़कर, जिसे अन्वेषण के दौरान जब्त किया गया और जो आपराधिक कार्यवाही का हिस्सा बना। अनुलग्नक 3, 4, 5, 6, 7, 11, 15, 16, 17, 18, 19, 20, 21/1, 22, 22/1, 24, 39, जिनका पूर्व में उल्लेख और विचार किया गया है, अन्वेषण अधिकारी द्वारा विचार में लिए गए प्रतीत नहीं होते, न ही विपक्षी पक्ष के विद्वान अधिवक्ता द्वारा उनके संबंध में कोई संदर्भ दिया गया है। जब ये दस्तावेज़ स्वयं यह प्रदर्शित करते हैं कि इन सामग्रियों के *प्रथमदृष्टया* मूल्य पर कोई अपराध नहीं बनता, तब आपराधिक अभियोजन को जारी नहीं रहने दिया जाना चाहिए और इसे अभिखंडित किया जाना चाहिए।”

अतः यह स्पष्ट है कि “अनुलग्नक” न तो पुलिस प्रतिवेदनों का हिस्सा थे और न ही अन्वेषण अधिकारी द्वारा उन पर भरोसा किया गया था। ये दस्तावेज़ उत्तरदाताओं द्वारा रिट याचिकाओं के साथ उच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए गए थे। “अनुलग्नक” तथा शपथपत्रों को साक्ष्य मानते हुए और स्वयं को विचारण न्यायालय में परिवर्तित करते हुए

उच्च न्यायालय ने उत्तरदाताओं को निर्दोष घोषित कर कार्यवाही को अभिखंडित कर दिया। न्यूनतम यह कहा जा सकता है कि यह ऐसा मामला बिल्कुल नहीं था जिसमें उच्च न्यायालय को अपनी अंतर्निहित अधिकार-क्षमता के प्रयोग में हस्तक्षेप करना चाहिए था। इस न्यायालय ने बार-बार यह कहा है कि साक्ष्य का मूल्यांकन आपराधिक न्यायालयों का कार्य है। इन परिस्थितियों में उच्च न्यायालय को अधिकार-क्षेत्र ग्रहण कर विधि द्वारा प्रदत्त अन्वेषण एवं विचारण की प्रक्रिया का अंत नहीं करना चाहिए था। चूँकि उच्च न्यायालय ने अपने निष्कर्षों के समर्थन में "अनुलग्नक" पर दृढ़ता से भरोसा किया, अतः हम संक्षेप में इन दस्तावेजों की जाँच कर सकते हैं।

अनुलग्नक 3 दिनांक अक्टूबर 10, 1986 की एक सरकारी अधिसूचना है, जिसमें बिहार राज्य में क्रय अथवा निर्माण हेतु 5 प्रकार के उर्वरकों का विनिर्देशन किया गया है। अनुलग्नक 4 दिनांक मार्च 31, 1986 का पंजीकरण प्रमाण-पत्र है, जिसके द्वारा फर्म को उर्वरक (नियंत्रण) आदेश 1957 के अंतर्गत बिहार राज्य में थोक विक्रेता के रूप में पंजीकृत किया गया। अनुलग्नक 5 दिनांक जुलाई 29, 1986 उक्त प्रमाण-पत्र का नवीकरण है। अनुलग्नक 6 दिनांक नवंबर 16, 1985 सहायक निदेशक (कृषि) गुणवत्ता नियंत्रण, उदयपुर, राजस्थान द्वारा फर्म को दिया गया प्रमाण-पत्र है, जिसके अनुसार उसके कारखाने से लिए गए उर्वरक के नमूने मानक पाए गए। अनुलग्नक 7 दिनांक अगस्त, 1986 कृषि विभाग, बिहार द्वारा कृषि विभाग, राजस्थान को लिखा गया पत्र है, जिससे यह प्रदर्शित होता है कि फर्म का पंजीकरण मार्च 31, 1989 तक नवीकृत किया गया था और उसे निर्दिष्ट ग्रेड के उर्वरक बिहार राज्य में आयात करने की अनुमति दी गई थी। अनुलग्नक 11 दिनांक अक्टूबर 23, 1986 जी.डी. मिश्रा द्वारा निदेशक, कृषि, बिहार को लिखा गया पत्र है, जिसमें प्रति एम.टी. ₹ 2,550 की दर से फर्म से क्रय किए जाने वाले उर्वरक की उपयुक्तता के

संबंध में राय माँगी गई थी। अनुलग्नक 15 दिनांक दिसंबर 19, 1986 जी.डी. मिश्रा द्वारा फर्म को लिखा गया पत्र है, जिसमें 408 एम.टी. उर्वरक की आपूर्ति का अनुरोध किया गया। अनुलग्नक 16 दिनांक मई 5, 1987 में अप्रैल 16, 1987 को आयोजित बिस्को के विपणन समिति की कार्यवाही सम्मिलित है, जिसमें वर्ष 1986-87 के लिए उर्वरक की बिक्री-क्रय का ज्ञापन अनुमोदित किया गया। अनुलग्नक 17 दिनांक फरवरी 18, 1985 आर.के. सिंह द्वारा जिलाधिकारी, पटना के रूप में कृषि उत्पादन आयुक्त, पटना को लिखा गया पत्र है, जिससे यह प्रकट होता है कि आर.के. सिंह ने आवश्यक वस्तुओं के नमूनों की जाँच राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय से कराई थी। अनुलग्नक 18 दिनांक मार्च 23, 1987 पी.पी. शर्मा द्वारा बिस्को के निदेशक मंडल के लिए तैयार किया गया ज्ञापन है, जिसमें यह सुझाव दिया गया कि फर्म से क्रय किए गए उर्वरक को कच्चे माल के रूप में बिस्को कारखानों में भेजा जाए, क्योंकि मूल्य में कमी के बावजूद उर्वरक नहीं बिक रहा था और भारी स्टॉक एवं धन अवरुद्ध था। अनुलग्नक 19 दिनांक मार्च 23, 1987 को आयोजित बिस्को के निदेशक मंडल की बैठक की कार्यवाही का अभिलेख है, जिसमें प्रबंध निदेशक के सुझाव—उर्वरक को कच्चे माल के रूप में बिस्को कारखानों में भेजकर 'सदा बहार' में परिवर्तित करने—को अनुमोदन दिया गया। अनुलग्नक 20 दिनांक मई 21, 1987 पी.पी. शर्मा द्वारा बिस्को की कार्यकारी समिति के लिए तैयार किया गया ज्ञापन है, जिसमें बिस्को कारखानों द्वारा 'हरा बहार' उर्वरक के निर्माण का प्रस्ताव है। अनुलग्नक 20/1 दिनांक मई 21, 1987 को आयोजित कार्यकारी समिति की बैठक की कार्यवाही की प्रति है, जिसमें 'हरा बहार' के निर्माण का निर्णय दर्ज है। अनुलग्नक 22 वह दस्तावेज़ है, जिससे यह प्रदर्शित होता है कि पी.पी. शर्मा ने जून 15, 1987 को प्रबंध निदेशक का प्रभार संजय श्रीवास्तव को सौंपा। अनुलग्नक 22/1 वह दस्तावेज़ है, जिससे यह प्रदर्शित होता है कि पी.पी. शर्मा

ने मई 26, 1986 को बिस्को के प्रबंध निदेशक का प्रभार ग्रहण किया। अनुलग्नक 24 दिनांक अक्टूबर 13, 1987 मिश्रा द्वारा फर्म को लिखा गया पत्र है, जिसमें उल्लिखित 8 डिपो से अमानक उर्वरक वापस लेने को कहा गया। अनुलग्नक 25 दिनांक मई 15, 1987 बिस्को फैक्ट्री के परियोजना प्रबंधक द्वारा मिश्रा को लिखा गया पत्र है, जिसमें 'हरा बहार' के निर्माण हेतु उर्वरक के उपभोग का प्रस्ताव विस्तृत किया गया है तथा यह भी कहा गया है कि निर्माण प्रक्रिया व्यवहार्य होगी। अनुलग्नक 26 फर्म द्वारा बिस्को को लिखा गया पत्र है, जिसमें फर्म ने 'हरा बहार' में रूपांतरण में सहायता देने तथा परिवहन, हैंडलिंग एवं प्रसंस्करण लागत वहन करने की बात कही है। अनुलग्नक 39 अन्वेषण अधिकारी द्वारा तैयार की गई केस डायरी है।

इन दस्तावेजों को ध्यान में रखते हुए उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि फर्म एक पंजीकृत इकाई थी; उसके पास बिहार राज्य से लाइसेंस था, जिससे उसे पूरे बिहार राज्य में उर्वरक विक्रय का एकाधिकार प्राप्त था; निविदाएँ आमंत्रित करना आवश्यक नहीं था; फर्म ने वैध प्रस्ताव दिया जिसे स्वीकार किया गया; बिस्को के कार्यालय को संबोधित पत्राचार का प्रारंभिक स्तर पर निपटारा हुआ; संबंधित प्राधिकरणों से प्रतिवेदनों प्राप्त करने तथा सभी स्तरों पर पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात, बिस्को की समिति सहित उच्चतम प्राधिकरणों द्वारा फर्म से उर्वरक क्रय को स्वीकृति दी गई। उच्च न्यायालय ने आगे यह भी अनुमान लगाया कि प्रस्तावित दरें बिहार राज्य द्वारा अनुमोदित दरों से कम थीं; नमूनों की जाँच राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय से कराई गई; कंपनी से क्रय किए गए उर्वरक के पुनःप्रसंस्करण द्वारा 'हरा बहार' के निर्माण का निर्णय बिस्को की समिति एवं बोर्ड द्वारा अनुमोदित था; तथा उक्त पुनःप्रसंस्करण से बिस्को को लाभ हुआ। इन अनुमानों

के आधार पर उच्च न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उत्तरदाताओं के विरुद्ध आपराधिक कार्यवाही उचित नहीं थी।

दूसरी ओर, श्री कपिल सिब्बल ने यह तर्क दिया कि अन्वेषण के दौरान संकलित सामग्री *प्रथमदृष्टया* उत्तरदाताओं की अपराध में संलिप्तता दर्शाती है। विद्वान अधिवक्ता ने अपने तर्क के समर्थन में अभिलेख पर उपलब्ध निम्नलिखित सामग्री को रेखांकित किया:

1. फर्म का उर्वरक निर्माण लाइसेंस अभिखंडित कर दिया गया था और जिस समय बिस्को ने फर्म को आदेश दिए, उस समय फर्म उर्वरक निर्माण की स्थिति में नहीं थी। यह कथन केस डायरी के कंडिका 48 के संदर्भ से समर्थित है।
2. दिनांक अगस्त 19, 1986 को फर्म द्वारा बिस्को को लिखा गया बताया गया पत्र वास्तव में बिस्को को प्राप्त ही नहीं हुआ। उक्त पत्र विशेष अधिकारी, उर्वरक को संबोधित बताया गया है। श्री सिब्बल ने केस डायरी के कंडिका 15 का उल्लेख किया, जिसमें विशेष अधिकारी, उर्वरक ने कहा है कि उसने उस फाइल का निपटारा कभी नहीं किया और उसे इस सौदे के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। तर्क यह है कि उक्त पत्र को फाइल में बाद में इस उद्देश्य से डाला गया कि यह दर्शाया जा सके कि सौदा अचानक नहीं था बल्कि दीर्घकालीन पत्राचार के बाद हुआ था।
3. श्री सिब्बल ने दिनांक नवंबर 14, 1986 की श्री जी.डी. मिश्रा की टिप्पणी का उल्लेख किया, जिसे नवंबर 20, 1986 को पी.पी. शर्मा और तपेश्वर सिंह ने अनुमोदित किया था। यह टिप्पणी फर्म से उर्वरक क्रय की अनुशंसा थी। श्री सिब्बल ने कहा कि टिप्पणी के कंडिका 7 और 8 में यह गलत उल्लेख किया गया है कि फर्म से क्रय किए जा रहे उर्वरक के ब्रांड की अनुशंसा अक्टूबर 25, 1986

को आयोजित फील्ड अधिकारियों की बैठक में की गई थी, जबकि ऐसी किसी बैठक का कोई अभिलेख नहीं है। आगे उन्होंने कंडिका 8 पढ़कर कहा कि राज्य में सुपफला 15:15:15 प्रकार के उर्वरक की माँग थी, किंतु जी.डी. मिश्रा ने अपनी टिप्पणी में गलत रूप से कहा कि उक्त ब्रांड उपलब्ध नहीं है और इस प्रकार 15:15:7½ ब्रांड के उर्वरक के क्रय का झूठा आधार बनाया।

4. श्री सिबबल ने दिनांक नवंबर 14, 1986 की जी.डी. मिश्रा की टिप्पणी के कंडिका 9 का उल्लेख किया और कहा कि मिश्रा ने चालान प्राप्त होने के 10 दिनों के भीतर फर्म को भुगतान की अनुशंसा की, जबकि फर्म ने अपने पत्र में 30 दिनों के भीतर भुगतान का संकेत दिया था।

5. उर्वरक की जाँच राज्य अथवा केंद्रीय प्रयोगशाला से की जानी थी। श्री सिबबल ने केस डायरी का उल्लेख करते हुए कहा कि जी.डी. मिश्रा ने यह कहकर नमूनों की जाँच राज्य प्रयोगशाला से नहीं कराई कि राज्य प्रयोगशाला बंद थी। उनके अनुसार केस डायरी की सामग्री से यह कारण असत्य पाया गया, क्योंकि प्रयोगशाला कार्यरत थी।

6. उत्तरदाताओं ने राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय की प्रतिवेदन के आधार पर—जिसमें उर्वरक को मानक गुणवत्ता का बताया गया—फर्म को आपूर्ति का आदेश दिया। श्री सिबबल ने केस डायरी एवं पुलिस अभिलेख का हवाला देते हुए बताया कि राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय के सह-प्राध्यापक श्री एस.एन. झा का दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अंतर्गत कथन दर्ज किया गया, जिसमें कथित रूप से कहा गया कि विश्वविद्यालय में जाँच हेतु कोई उर्वरक आया ही नहीं और ऐसी कोई प्रतिवेदन दी ही नहीं गई। प्रतिवेदन प्रो. एस.एन. झा के लेटर-हेड पर थी, जिसे उन्होंने अपने

कथन में नकार दिया। श्री सिब्बल ने कहा कि प्रथमदृष्टया यह साक्ष्य है कि राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय की कथित जाँच-प्रतिवेदन जाली एवं कूटरचित थी; तथा अभिलेख पर आरोपों के अनुसार वास्तविक कूटरचना अभियुक्त पी.एन. साहू द्वारा की गई।

7. केंद्रीय प्रयोगशाला को भेजे गए फर्म द्वारा आपूर्ति किए गए उर्वरक के नमूनों के परिणाम से यह स्पष्ट हुआ कि 11 में से 8 नमूने अमानक पाए गए।

8. श्री सिब्बल का तर्क है कि 11 में से 8 नमूने अमानक पाए जाने पर संपूर्ण उर्वरक फर्म को वापस किया जाना चाहिए था, किंतु इसके स्थान पर उसे 'हरा बहार' के निर्माण हेतु कच्चा माल मानकर पुनःप्रसंस्करण का निर्णय लिया गया।

9. श्री सिब्बल का कहना है कि दिनांक दिसंबर 18, 1986 को खातों विभाग की दिनांक दिसंबर 16, 1986 की आपत्ति के बावजूद फर्म को 23 लाख का भुगतान किया गया। उनके अनुसार, आगे जनवरी 22, 1987 को 30 लाख का भुगतान भी इस तथ्य के बावजूद किया गया कि उस समय तक केंद्रीय प्रयोगशाला से उर्वरक के अमानक होने के परिणाम प्राप्त हो चुके थे।

10. श्री सिब्बल के अनुसार, अन्वेषण के दौरान यह सामग्री सामने आई है कि फर्म से क्रय किया गया उर्वरक खुदरा बाजार में ₹ 2000 प्रति एम.टी. की कहीं कम कीमत पर बेचा जा रहा था।

हम अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री के अपने-अपने मूल्यांकन के आधार पर पक्षकारों के परस्पर विरोधी तर्कों पर कोई मत व्यक्त करना नहीं चाहते। हमने "अनुलग्नक", उच्च न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्षों तथा श्री सिब्बल के तथ्यात्मक आकलन का उल्लेख केवल यह दर्शाने के लिए किया है कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 226/227 के

अंतर्गत अपनी अधिकार-सीमा में रहते हुए उत्तरदाताओं द्वारा रिट याचिकाओं के साथ प्रस्तुत दस्तावेजों का मूल्यांकन करने और विवादित तथ्यात्मक प्रश्नों में प्रवेश करने में उच्च न्यायालय से गंभीर त्रुटि हुई।

हमने अभिलेख पर उपलब्ध संपूर्ण सामग्री का सावधानीपूर्वक अवलोकन किया है और हम उच्च न्यायालय से इस बात पर सहमत नहीं हैं कि उत्तरदाताओं के विरुद्ध अभियोजन किसी प्रकार सूचक या अन्वेषण अधिकारी की दुर्भावना के परिणामस्वरूप प्रारंभ किया गया था। ऐसा दर्शाने के लिए कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है कि प्राथमिकी दर्ज किए जाने से पूर्व उत्तरदाताओं और सूचक/अन्वेषण अधिकारी के बीच कोई शत्रुता थी। वास्तव में अभिलेख पर ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे यह प्रतीत हो कि अन्वेषण अधिकारी जी.एन. शर्मा उत्तरदाताओं से परिचित भी थे। उत्तरदाताओं में से एक के विद्वान अधिवक्ता श्री आर.के. जैन ने हमारा ध्यान अभिलेख पर उपलब्ध विभिन्न तथ्यों की ओर आकृष्ट किया और जोरदार तर्क दिया कि सूचक और अन्वेषण अधिकारी की *दुर्भावना* इस मामले के तथ्यों से स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

*दुर्भावनापूर्ण* शक्ति-प्रयोग का प्रश्न तभी महत्व ग्रहण करता है जब आपराधिक अभियोजन बाह्य कारणों से और किसी अनधिकृत उद्देश्य के लिए प्रारंभ किया गया हो। इस मामले में ऐसा कोई भी सामग्री नहीं है जिससे यह दर्शाया जा सके कि जिस तिथि को आर.के. सिंह ने प्राथमिकी दर्ज कराई, उस समय वह पक्षपात से प्रेरित था या उसके पास दुर्भावनापूर्ण ढंग से कार्य करने का कोई कारण था। उत्तरदाताओं के विरुद्ध मामला दर्ज करने का प्रमुख उद्देश्य प्राथमिकी में निहित आरोपों की जाँच कराना था और यदि आरोपों के समर्थन में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती, तो न्यायालय के समक्ष आरोप-पत्र प्रस्तुत करना था। ऐसा कोई भी सामग्री नहीं है जिससे यह दर्शाया जा सके कि मामला दर्ज करने का

प्रधान उद्देश्य उत्तरदाताओं का चरित्र-हन्न करना या उन्हें परेशान एवं अपमानित करना था। इस न्यायालय ने *बिहार राज्य बनाम जे ए सी सल्थाना और अन्य*, [1980] 2 एस सी आर 16 में यह निर्णय दिया है कि जब पुलिस थाने में सूचना दर्ज की जाती है और अपराध पंजीकृत होता है, तब सूचक की दुर्भावना का महत्व द्वितीयक हो जाता है; अभियुक्त का भाग्य अन्वेषण के दौरान संकलित सामग्री से तय होता है। इस न्यायालय ने *हरियाणा राज्य और अन्य बनाम च. भजन लाल और अन्य*., जे टी 1990 (4 ) एस सी 655 में इस तथ्य के बावजूद कि अभियोजन धरम पाल के कहने पर दर्ज हुआ था जो भजन लाल के प्रति शत्रुतापूर्ण था, च. भजन लाल के विरुद्ध राज्य सरकार को पुनः अन्वेषण कराने की अनुमति दी।

सूचक, आरोप दर्ज कराने की विशिष्ट स्थिति में होने के कारण, अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा स्वाभाविक रूप से तिरस्कृत दृष्टि से देखा जाता है। अतः प्राथमिकी दर्ज होने के पश्चात् उत्पन्न तथ्यों के आधार पर सूचक के विरुद्ध दुर्भावना के आरोप का कोई महत्व नहीं है और इन्हें कार्यवाही अभिखंडित करने का आधार नहीं बनाया जा सकता। जहाँ तक अन्वेषण अधिकारी का प्रश्न है, उसके पास दंड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत व्यापक अधिकार हैं। उसे केवल आरोपों की जाँच करने के उद्देश्य से अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना होता है और जाँच के दौरान उसे अभियुक्त के विरुद्ध या पक्ष में—दोनों प्रकार की—प्रासंगिक सामग्री पर विचार करना होता है। मात्र इस कारण से कि अन्वेषण अधिकारी ने सद्भावना में कार्य करते हुए कुछ दस्तावेजों को अप्रासंगिक मानकर बाहर कर दिया, यह मान लेने का कोई आधार नहीं है कि उसने दुर्भावनापूर्ण ढंग से कार्य किया। अन्वेषण अधिकारी द्वारा प्रस्तुत पुलिस प्रतिवेदन को संज्ञान के चरण पर दंडाधिकारी की न्यायिक समीक्षा से गुजरना होता है। यद्यपि उस चरण पर अभियुक्त को सुने जाने का अधिकार नहीं होता,

तथापि यदि अभियुक्त को अन्वेषण अधिकारी या अन्वेषण की पद्धति के संबंध में कोई शिकायत हो, तो वह अपनी आपत्तियाँ दंडाधिकारी के संज्ञान में ला सकता है, जिन पर दंडाधिकारी विचार कर सकता है। जब धारा 173 दंड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत पुलिस प्रतिवेदन को न्यायिक समीक्षा से गुजरना होता है, तब उच्च न्यायालय के लिए यह खुला नहीं है कि वह इस आधार पर उसमें दोष ढूँढे कि कुछ दस्तावेजों पर अन्वेषण अधिकारी द्वारा विचार नहीं किया गया। अतः हम उच्च न्यायालय के इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं कि सूचक और अन्वेषण अधिकारी की दुर्भावना के कारण प्राथमिकी और अन्वेषण दूषित हो गए। तथापि, हम उस तथ्यात्मक पृष्ठभूमि का उल्लेख कर सकते हैं जिसके आधार पर उच्च न्यायालय ने सूचक और अन्वेषण अधिकारी के विरुद्ध दुर्भावना के निष्कर्ष निकाले। उच्च न्यायालय ने सूचक आर.के. सिंह के विरुद्ध निम्नलिखित सामग्रियों के आधार पर निष्कर्ष निकाले:—

1. आर.के. सिंह, जो अपेक्षाकृत कनिष्ठ अधिकारी थे, ने पी.पी. शर्मा के अधीन दो बार—गया में सहायक दंडाधिकारी के रूप में और जमुई में उप-खंड अधिकारी के रूप में—कार्य किया था।
2. बिस्को के प्रबंध निदेशक के रूप में कार्यभार ग्रहण करने के 10 दिनों के भीतर उन्होंने श्री पी.पी. शर्मा के विरुद्ध सरचार्ज कार्यवाही प्रारंभ करने का प्रस्ताव भेजा, जिसे तत्कालीन रजिस्ट्रार ने अस्वीकार कर दिया। बाद में जब आर.के. सिंह ने रजिस्ट्रार का प्रभार ग्रहण किया, तो उन्होंने उसी प्रस्ताव को पुनर्जीवित किया।
3. आर.के. सिंह ने दिनांक नवंबर 17, 1986 के सरकारी निर्देशों का जानबूझकर उल्लंघन किया, जिनमें किसी सरकारी अधिकारी के विरुद्ध आपराधिक कार्यवाही प्रारंभ करने से पूर्व प्रशासनिक विभाग की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी।

4. आर.के. सिंह ने बिस्को की प्रासंगिक फाइलें और कागजात एक सप्ताह से अधिक समय तक अन्वेषण अधिकारी को सौंपे नहीं, ताकि बिस्को की फाइलों में छेड़छाड़/नष्ट/जालीकरण करने का समय मिल सके। पूरे अन्वेषण के दौरान वह अन्वेषण अधिकारी को निर्देश देते रहे। यहाँ तक कि अन्वेषण अधिकारी द्वारा उनके ओर से शपथपत्र भी दायर किया गया।

5. आर.के. सिंह के पास उपलब्ध दस्तावेज ऐसे थे कि कोई भी विवेकशील और निष्पक्ष व्यक्ति प्राथमिकी दर्ज नहीं करता। उन्होंने दस्तावेजों की उपेक्षा कर दुर्भावनापूर्ण ढंग से प्राथमिकी दर्ज कराई।

6. आर.के. सिंह ने विशेष न्यायाधीश के समक्ष अंतिम तिथि की बहस के दिन पी.पी. शर्मा के अभियोजन हेतु स्वीकृति जारी कराई, जबकि इससे पूर्व अन्वेषण अधिकारी ने कहा था कि स्वीकृति आवश्यक नहीं है।

7. आर.के. सिंह ने उच्च न्यायालय में दुर्भावना के आरोपों से इनकार करते हुए शपथपत्र दायर किया और अधिवक्ता के माध्यम से पूरे समय कार्यवाही का विरोध किया।

8. प्राथमिकी दर्ज होने के पश्चात् बिहार के मुख्य सचिव को लिखे पत्र में आर.के. सिंह ने पी.पी. शर्मा को "गटर रैट" और "कॉमन क्रॉकरी थीफ" कहा।

अन्वेषण अधिकारी जी.एन. शर्मा की दुर्भावना के संबंध में उच्च न्यायालय ने

निम्नलिखित तथ्यों पर निष्कर्ष निकाले:—

1. अन्वेषण अधिकारी ने प्राथमिकी दर्ज होने के पश्चात् एक सप्ताह से अधिक समय तक सूचक को बिस्को की प्रासंगिक फाइलें रोककर रखने की जानबूझकर अनुमति दी।

2. अन्वेषण अधिकारी ने प्रारंभ से ही पी.पी. शर्मा के प्रति धमकीपूर्ण रुख अपनाया। उनसे पूछताछ करने के बजाय उनसे 'सफाई बयान' देने की माँग की।

3. पी.पी. शर्मा ने अन्वेषण अधिकारी को रिट याचिका की प्रति अनुलग्नकों सहित दी। ये अनुलग्नक राज्य सरकार और बिस्को के अभिलेखों से संबंधित प्रासंगिक दस्तावेज़ थे। अन्वेषण अधिकारी ने उन्हें अप्रासंगिक बताकर विचार में लेने से इनकार कर दिया, जबकि ये दस्तावेज़ उत्तरदाताओं की निरपराधिता दर्शा सकते थे।

4. अन्वेषण अधिकारी ने पुलिस प्रतिवेदन प्रस्तुत करने से पूर्व राज्य सरकार से स्वीकृति प्राप्त नहीं की। उन्होंने केस डायरी में उल्लेख किया कि धारा 197 दंड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत स्वीकृति आवश्यक नहीं है। आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 15-ए के अंतर्गत स्वीकृति भी प्राप्त नहीं की गई।

उपर्युक्त तथ्यों पर हमने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। हमारा मत है कि इन तथ्यों के आधार पर आर.के. सिंह और जी.एन. शर्मा द्वारा प्राथमिकी दर्ज कराने और अन्वेषण करने में पक्षपात एवं दुर्भावना के निष्कर्ष पर पहुँचना उच्च न्यायालय के लिए उचित नहीं था। हम जानबूझकर उपर्युक्त तथ्यों पर किसी विस्तृत चर्चा में नहीं जा रहे हैं। इतना कहना पर्याप्त है कि उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कोई भी विवेकशील व्यक्ति उच्च न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता।

डॉ. शंकर घोष और श्री आर.के. जैन, विद्वान अधिवक्ता, जो उत्तरदाताओं की ओर से उपस्थित हुए, ने उच्च न्यायालय के इस निष्कर्ष का प्रबल समर्थन किया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 तथा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 15-ए के अंतर्गत स्वीकृति

प्रदान करने वाला संयुक्त आदेश सक्षम प्राधिकारी द्वारा मनोयोग के अभाव के कारण दूषित था। स्वीकृति आदेश का प्रासंगिक अंश इस प्रकार है:—

“जबकि कार्मिक एवं प्रशासनिक सुधार विभाग की फाइल सं. 1/A-3/89, जो विधि विभाग को प्रेषित की गई है, में उपलब्ध अभिलेखों एवं केस डायरी का अवलोकन करने के उपरांत राज्य सरकार इस बात से संतुष्ट है कि भारतीय दंड संहिता (अधिनियम 45/1860) की धारा 409/420/467/468/471/120 तथा आवश्यक वस्तु अधिनियम के अधीन उर्वरक नियंत्रण आदेश 1985 के प्रावधानों के उल्लंघन में धारा 7 के अंतर्गत, अभियुक्त श्री पी.पी. शर्मा, आई.ए.एस., अध्यक्ष, सोन कमांड विकास एजेंसी तथा प्रबंध निदेशक, बिस्कोमान, पटना के विरुद्ध गांधी मैदान थाना कांड सं. 970/88 में अभियोजन प्रारंभ करने हेतु प्रथमदृष्टया मामला बनता है...”

“अतः, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (अधिनियम सं. 11 of 1974) की धारा 197 तथा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 15 के अंतर्गत प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, भारतीय दंड संहिता की धारा 409/420/467/468/471/120 तथा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 7 के अंतर्गत अभियोजन की स्वीकृति प्रदान की जाती है।”

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अंतर्गत स्वीकृति कोई मात्र औपचारिकता नहीं है। यह आवश्यक है कि इसके प्रावधानों का पूर्ण कठोरता के साथ पालन किया जाए। स्वीकृति प्राप्त करने का उद्देश्य यह है कि संबंधित प्राधिकारी, अन्वेषण अधिकारी के समक्ष उपलब्ध सामग्री पर स्वयं विचार कर सके, और तब यह निष्कर्ष निकाले कि परिस्थितियों में अभियोजन की स्वीकृति दी जानी चाहिए या उसे अस्वीकार किया जाना चाहिए। धारा

197 के प्रावधानों का अनुपालन करने हेतु यह सिद्ध किया जाना आवश्यक है कि स्वीकृति, आरोपित अपराध को गठित करने वाले तथ्यों के संदर्भ में दी गई थी। यह वांछनीय है कि ऐसे तथ्यों का उल्लेख स्वीकृति के मुखपृष्ठ पर किया जाए। धारा 197 यह अपेक्षा नहीं करती कि स्वीकृति किसी विशेष प्रारूप में हो। यदि आरोपित अपराध को गठित करने वाले तथ्य स्वीकृति के मुखपृष्ठ पर प्रदर्शित नहीं हैं, तो आपत्ति किए जाने पर अभियोजन के लिए यह खुला है कि वह न्यायालय के समक्ष यह सिद्ध करे कि वे तथ्य स्वीकृति प्रदान करने वाले प्राधिकारी के समक्ष प्रस्तुत किए गए थे। स्वीकृति के स्वरूप से यह स्पष्ट होना चाहिए कि स्वीकृति प्रदान करने वाले प्राधिकारी ने अपने समक्ष प्रस्तुत प्रासंगिक सामग्री पर विचार किया तथा मामले की सभी परिस्थितियों पर विचार करने के उपरांत अभियोजन की स्वीकृति प्रदान की।

वर्तमान मामले में स्वीकृति की तिथि तक अन्वेषण पूर्ण हो चुका था और पुलिस प्रतिवेदन दंडाधिकारी के समक्ष प्रस्तुत किए जा चुके थे। स्वीकृति प्रदान करने वाले प्राधिकारी ने स्वीकृति आदेश में विशेष रूप से उल्लेख किया है कि स्वीकृति प्रदान करने से पूर्व अभिलेखों तथा केस डायरी पर विचार किया गया था। केस डायरी पुलिस अन्वेषण का पूर्ण अभिलेख होती है। इसमें आरोपों के समर्थन में या उनके विरुद्ध समस्त सामग्री निहित होती है। जब स्वीकृति प्राधिकारी ने स्वीकृति प्रदान करने से पूर्व केस डायरी पर विचार किया है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसके द्वारा मस्तिष्क का अनुप्रयोग नहीं किया गया। यह किसी का भी मामला नहीं है कि स्वीकृति आदेश में किया गया यह उल्लेख कि सक्षम प्राधिकारी ने केस डायरी पर विचार किया, असत्य है। अतः हम उच्च न्यायालय के निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं और उसे अपास्त करते हैं।

उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष कि आवश्यक वस्तु अधिनियम के अंतर्गत प्रतिवादियों के विरुद्ध कोई अपराध नहीं बनता, 'अनुलग्नकों' तथा अभिलेख पर उपलब्ध अन्य विवादित तथ्यों के मूल्यांकन पर आधारित है और इस प्रकार, उपर्युक्त कारणों से यह अस्थिर है।

हमने आर.के. सिंह द्वारा दर्ज की गई प्राथमिकी का पुनरुत्पादन किया है। यह निर्विवाद है कि यदि प्राथमिकी में निहित तथ्यों को सही माना जाए, तो प्रतिवादियों के विरुद्ध प्रथमदृष्टया अपराध बनता है। हमने प्रतिवादियों द्वारा दायर प्रति-शपथपत्र के साथ संलग्न पुलिस प्रतिवेदनों तथा केस डायरी का भी अवलोकन किया है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उच्च न्यायालय ने प्रतिवादियों के विरुद्ध प्राथमिकी एवं अभियोजन को निरस्त करते समय प्रत्यक्ष अवैधता के साथ कार्य किया।

अंततः, यह समझ से परे है कि उच्च न्यायालय ने किन कारणों और किस तर्क के आधार पर भारत के संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अंतर्गत असाधारण अधिकारिता का प्रयोग उस अवस्था में किया, जब विशेष न्यायाधीश इस मामले पर विचाररत थे। उन्होंने संज्ञान के प्रश्न पर पक्षकारों की दलीलें सुन ली थीं और आदेश सुरक्षित रख लिया था। उच्च न्यायालय ने विशेष न्यायाधीश को आदेश पारित करने की अनुमति तक नहीं दी।

इस वाद में फर्म के निदेशकों, जो कि सह-अभियुक्त भी हैं, ने अपने विरुद्ध प्राथमिकी एवं अभियोजन को निरस्त कराने के लिए राजस्थान उच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था। राजस्थान उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित आदेश के साथ रिट याचिका को खारिज कर दिया—

“श्री भंडारी का कहना है कि इस मामले में चालान पहले ही न्यायालय में प्रस्तुत किया जा चुका है। अतः रिट याचिका निरर्थक हो गई है। रिट याचिका को निरर्थक हो जाने के कारण खारिज किया जाता है। व्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं।”

उपरोक्त आदेश पटना उच्च न्यायालय के संज्ञान में लाया गया था, किन्तु उच्च न्यायालय ने उसी प्रकार का मार्ग अपनाने से इंकार कर दिया। हमारा सुविचारित मत है कि जिस अवस्था में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 के अंतर्गत पुलिस प्रतिवेदन, अन्वेषण पूर्ण होने के पश्चात दंडाधिकारी के समक्ष प्रेषित किया जा चुका हो और अन्वेषण अधिकारी द्वारा संकलित सामग्री न्यायिक परीक्षण के अधीन हो, उस अवस्था में उच्च न्यायालय को अपनी अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते हुए निरस्तीकरण की कार्यवाही करने से स्वयं को संयमित रखना चाहिए। हम केवल इसी आधार पर उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त कर सकते थे, किन्तु पक्षकारों के अधिवक्ताओं द्वारा विस्तृत तर्क प्रस्तुत किए जाने के कारण हमने मामले के सभी पहलुओं पर विचार करना उचित समझा।

अतः, हम अपीलों को स्वीकार करते हैं, उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त करते हैं तथा प्रतिवादियों द्वारा उच्च न्यायालय में दायर रिट याचिकाओं को खारिज करते हैं।

बिहार राज्य सहकारी विपणन संघ (संक्षेप में ‘बिस्कोमौन’) राज्य में विभिन्न स्थानों पर स्थित अपने डिपो के माध्यम से किसानों को उर्वरकों का एकमात्र क्रेता एवं वितरक है। जब कुप्रबंधन के कारण बिस्कोमौन परिसमापन के कगार पर पहुँच गया, तब राज्य सरकार ने 30 जुलाई, 1988 को इसके निदेशक मंडल को अधिगृहित कर आर.के.

सिंह, आई.ए.एस. को इसका प्रशासक एवं प्रबंध निदेशक नियुक्त किया। अपने कर्तव्यों के निर्वहन के दौरान उन्होंने तत्कालीन प्रबंध निदेशक पी.पी. शर्मा (प्रथम प्रतिवादी), तत्कालीन सलाहकार गणेश दत्त मिश्र (द्वितीय प्रतिवादी) तथा बिस्कोमौन के तत्कालीन अध्यक्ष तपेश्वर सिंह द्वारा की गई वित्तीय अनियमितताओं को चिन्हित किया और 1 सितम्बर, 1988 को गांधी मैदान थाना, पटना के थाना प्रभारी के समक्ष इसकी सूचना प्रस्तुत की। विवरणों को संक्षेप में रखते हुए, उनके विरुद्ध लगाए गए आरोपों का सार यह है कि उन्होंने राजस्थान मल्टी फर्टिलाइजर्स प्राइवेट लिमिटेड (संक्षेप में 'कंपनी') तथा उसके निर्दिष्ट साझेदारों के साथ मिलकर कंपनी को अनुचित लाभ पहुँचाने तथा बिस्कोमौन और किसानों को अनुचित हानि पहुँचाने के उद्देश्य से 'सूरज' ब्रांड के निम्नस्तरीय उर्वरकों की खरीद के लिए षड्यंत्र रचा। इस उद्देश्य की पूर्ति में अध्यक्ष ने कंपनी से सीधे आवेदन प्राप्त किए, बिना उन्हें आधिकारिक माध्यम से प्रसारित किए तथा खुले बाजार से निविदाएं आमंत्रित किए बिना ही अनुबंध को अंतिम रूप दे दिया। कंपनी के 'सूरज' ब्रांड का प्रचलित खुदरा मूल्य 2,000/- प्रति मीट्रिक टन था, किन्तु अनुबंध 2,509.60 प्रति मीट्रिक टन की दर से किया गया। अनुबंध के अनुसार, कंपनी को पूर्ण बोरी में दानेदार मिश्रित उर्वरक आपूर्ति करनी थी, जिनका रासायनिक परीक्षण बिस्कोमौन अथवा राज्य या केंद्र सरकार की प्रयोगशाला में किया जाना था। यदि उर्वरक निम्नस्तरीय पाए जाते, तो उन्हें कंपनी के खर्च पर वापस लिया जाना था। परीक्षण में उर्वरक मानक पाए जाने पर, निर्धारित दर से 30 दिनों के भीतर भुगतान किया जाना था। शर्मा ने कंपनी को 2500 मीट्रिक टन उर्वरकों की आपूर्ति का आदेश दिया। उर्वरक निरीक्षकों द्वारा उर्वरकों का परीक्षण उर्वरक नियंत्रण आदेश के अनुसार किया जाना था, किन्तु इसके स्थान पर कंपनी के एजेंट ने उर्वरकों को रासायनिक परीक्षण हेतु राजेंद्र कृषि विश्वविद्यालय, बिहार में परीक्षण के लिए

प्रस्तुत किया। विश्वविद्यालय के मृदा विज्ञान विभाग के एसोसिएट प्रोफेसर डॉ. एस.एन. झा द्वारा दिए गए बताए गए प्रतिवेदन को उसी विभाग के एक सहायक एस.एन. साहू, जो कि अभियुक्तों में से एक है, द्वारा कूट रचित किया गया था। भुगतान अनुचित शीघ्रता में किए गए तथा जी.डी. मिश्र द्वारा 450 मीट्रिक टन की अतिरिक्त आपूर्ति का आदेश भी दिया गया। कुल मिलाकर केवल 459 मीट्रिक टन की बिक्री हुई। जब डिपो से यह प्रतिवेदन प्राप्त होने लगे कि आपूर्ति किए गए उर्वरक निम्नस्तरीय और मिलावटी हैं तथा बोरियों में पूर्ण वजन नहीं है, तब स्टॉक को वापस करने के बजाय प्रबंध समिति से अविक्रीत पुराने स्टॉक को "हरभाहर" में परिवर्तित करने का प्रस्ताव पारित कराया गया। जब कंपनी द्वारा आपूर्ति किए गए स्टॉक को "हरभाहर" में परिवर्तित करने का विशिष्ट अनुरोध प्रबंध समिति द्वारा अस्वीकार कर दिया गया, तब भी उक्त प्रस्ताव का कपटपूर्वक उपयोग निम्नस्तरीय एवं मिलावटी उर्वरकों की आपूर्ति के साक्ष्य को नष्ट करने हेतु किया गया और उन्हें हरभाहर में परिवर्तित कर अभिलेखों को उसी के अनुरूप कूट रचित किया गया। संक्षेप में, ये आरोप भारतीय दंड संहिता की धारा 409, 420, 467, 468 तथा 471 सहपठित धारा 120 बी तथा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 7 एवं उर्वरक नियंत्रण आदेश के अंतर्गत दंडनीय हैं। जी.एन. शर्मा, अपर पुलिस अधीक्षक, सी.बी.सी.आई.डी. ने अन्वेषण कर साक्ष्य एकत्र किए और दो आरोप-पत्र दायर किए—एक भारतीय दंड संहिता के प्रासंगिक प्रावधानों के अंतर्गत तथा दूसरा आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 7 के अंतर्गत—जो क्रमशः विशेष न्यायाधीश, आर्थिक अपराध, तथा मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी, पटना के समक्ष आरोप-पत्र सं. 102 एवं 103 /1988 के रूप में प्रस्तुत किए गए, किन्तु अभी तक अपराध का संज्ञान नहीं लिया गया है। मेरे माननीय सहोदर न्यायाधीश ने प्राथमिकी एवं आरोप-पत्रों को निरस्त करने संबंधी उच्च न्यायालय के निष्कर्षों तथा दोनों पक्षों के अधिवक्ताओं के तर्कों

का उल्लेख किया है। अतः मैं उन्हें दोहराने से विरत रहता हूँ, सिवाय उन बिंदुओं के जिनका संदर्भ आवश्यक होने पर किया जाएगा।

निस्संदेह, जब उच्च न्यायालय भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत अपने विशेषाधिकारयुक्त विवेकाधीन अधिकार का प्रयोग करता है, तो उसके अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत किसी भी न्यायालय, अधिकरण या प्राधिकरण की न्यायिक या अर्ध-न्यायिक प्रक्रिया में जहाँ कहीं भी अन्याय पाया जाता है, वहाँ तक पहुँचने के लिए उसके हाथ पर्याप्त रूप से विस्तृत होते हैं। किन्तु यह स्व-आरोपित सीमाओं से आबद्ध है। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि किन परिस्थितियों में उच्च न्यायालय, आपराधिक न्यायालय द्वारा अपराध का संज्ञान लिए जाने से पूर्व ही, विशेषतः शिकायतकर्ता या अन्वेषण अधिकारी की दुर्भावना के आधार पर अथवा गुण-दोष के आधार पर, आरोप-पत्र को निरस्त करने के लिए उचित रूप से हस्तक्षेप कर सकता है।

पक्षकारों के संबंधित तर्कों का समुचित मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (संक्षेप में "संहिता") के प्रासंगिक प्रावधानों के कार्यक्षेत्र को अपने समक्ष रखें। संहिता की धारा 2(न) तथा भारतीय दंड संहिता की धारा 40 में "अपराध" शब्द को परिभाषित किया गया है, जिसका अर्थ है— कोई भी कार्य या उपेक्षा, जिसमें वह कृत्य भी सम्मिलित है जिसे भारतीय दंड संहिता अथवा किसी विशेष या स्थानीय विधि के अंतर्गत, छह माह या उससे अधिक के कारावास से, चाहे वह जुर्माने सहित हो या बिना जुर्माने के, दंडनीय बनाया गया हो। अतः कोई भी कार्य, उपेक्षा या ऐसा कृत्य जो दंड संहिता या किसी विशेष या स्थानीय विधि के अंतर्गत दंडनीय है, संबंधित विधि के अधीन अपराध है। संहिता के अध्याय XII की धारा 154 संज्ञेय अपराधों की सूचना, चाहे मौखिक हो या लिखित, पुलिस थाना के अधिकारी को देने का प्रावधान करती

है, जिसे वह अधिकारी, यदि सूचना मौखिक हो, तो स्वयं या अपने निर्देश पर लिखित रूप में परिवर्तित करेगा तथा उसका सार राज्य सरकार द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार पुलिस स्टेशन में रखी जाने वाली पुस्तक में प्रविष्ट करेगा। थाना प्रभारी को धारा 155(2) के अंतर्गत बिना संबंधित दंडाधिकारी के आदेश के केवल असंज्ञेय मामलों की जांच करने से निषिद्ध किया गया है। किन्तु यदि तथ्यों से संज्ञेय और असंज्ञेय दोनों प्रकार के अपराध प्रकट होते हैं, तो धारा 155 की उपधारा (4) के प्रभाव से वह मामला संज्ञेय माना जाएगा और पुलिस अधिकारी को बिना दंडाधिकारी के किसी आदेश के असंज्ञेय अपराध की भी जांच करने का अधिकार होगा। धारा 156 सक्षम पुलिस अधिकारी अथवा उसके निर्देश पर उसके अधीनस्थ को संज्ञेय अपराधों की जांच करने की वैधानिक शक्ति प्रदान करती है। संज्ञेय अपराधों के मामलों में प्रथम सूचना रिपोर्ट की प्राप्ति या अभिलेखन, आपराधिक जांच प्रारंभ करने की पूर्व शर्त नहीं है। धारा 157 जांच की प्रक्रिया का प्रावधान करती है। यदि पुलिस थाना का प्रभारी अधिकारी सूचना प्राप्त होने पर या अन्यथा, संज्ञेय अपराध के किए जाने का संदेह करने का कारण रखता है और उसे उसकी जांच करने का अधिकार है, तो वह स्वयं या अपने किसी अधीनस्थ अधिकारी (जो निर्दिष्ट पद से नीचे न हो) को स्थल पर भेजकर तथ्यों एवं परिस्थितियों की जांच करेगा तथा आवश्यक होने पर अपराधी की खोज और गिरफ्तारी के लिए उपाय करेगा। इसके उपबंध (क) और (ख) के अनुसार, लघु अपराधों के मामलों में किसी अन्य अधीनस्थ अधिकारी को नियुक्त करने का अधिकार है, या यदि अन्वेषण अधिकारी का यह मत हो कि जांच प्रारंभ करने हेतु पर्याप्त आधार नहीं है, तो वह मामले की जांच नहीं करेगा।

अन्वेषण विभिन्न चरणों से मिलकर बना होता है— (1) घटनास्थल पर जाना; (2) मामले के तथ्यों एवं परिस्थितियों का पता लगाना; (3) संदिग्ध अपराधी की खोज तथा

गिरफ्तारी; (4) अपराध के किए जाने से संबंधित साक्ष्य का संकलन, जिसमें सम्मिलित हो सकते हैं— (क) विभिन्न व्यक्तियों, जिनमें अभियुक्त भी शामिल है, का परीक्षण तथा यदि अधिकारी उचित समझे तो उनके कथनों को लिखित रूप में लाना (धारा 161 दंड प्रक्रिया संहिता); (ख) स्थानों की तलाशी तथा अन्वेषण एवं विचारण के लिए आवश्यक वस्तुओं का जब्तीकरण (धारा 165 दंड प्रक्रिया संहिता आदि); तथा (ग) भौतिक वस्तुओं की बरामदगी या अभियुक्त से प्राप्त ऐसी सूचना, जिसके परिणामस्वरूप तथ्यों की खोज से संबंधित उतनी ही सूचना का प्रमाणित होना (भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 27)।

अन्वेषण पूर्ण होने पर यदि अन्वेषण अधिकारी के समक्ष यह प्रतीत होता है कि अभियुक्त को विचारण हेतु प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य या युक्तियुक्त आधार उपलब्ध है, तो वह इस संबंध में साक्ष्य सहित अपनी प्रतिवेदन न्यायालय को अग्रेषित करेगा तथा यदि अभियुक्त अभिरक्षा में है, तो उसे दंडाधिकारी के समक्ष प्रस्तुत करेगा। इसके विपरीत, यदि उसका मत हो कि अभियुक्त को अपराध से जोड़ने के लिए पर्याप्त साक्ष्य या युक्तियुक्त आधार नहीं है, तो वह उसी के अनुसार प्रतिवेदन दंडाधिकारी को प्रेषित कर सकता है। दंडाधिकारी को यह अधिकार है कि वह प्रतिवेदन पर विचार कर, यदि संतुष्ट हो कि अभियुक्त ने प्रथमदृष्टया अपराध किया है, तो वह अपराध का संज्ञान ले और अभियुक्त को, यदि वह जमानत पर है, तो विचारण हेतु नियत तिथि पर उपस्थित होने के लिए समन या वारंट जारी करे, अथवा उसे सत्र न्यायालय में विचारण हेतु सुपुर्द करे। दंडाधिकारी पर यह बाध्यता नहीं है कि वह अन्वेषण अधिकारी के इस मत को स्वीकार करे कि अभियुक्त के विरुद्ध पर्याप्त साक्ष्य या युक्तियुक्त आधार नहीं है; वह आगे की जांच का निर्देश दे सकता है या अन्वेषण अधिकारी स्वयं, यदि बाद में उसे कुछ नए तथ्यों की जानकारी हो, तो धारा 173(8) के अंतर्गत पूरक आरोप-पत्र प्रस्तुत कर सकता है, अथवा दंडाधिकारी स्वयं

या अपने अधीनस्थ दंडाधिकारी के माध्यम से आगे की जांच करा सकता है, या उसके समक्ष प्रस्तुत सामग्री पर विचार कर अपराध का संज्ञान लेकर उपर्युक्तानुसार आगे की कार्यवाही कर सकता है। तभी आपराधिक मामले में कार्यवाही का विधिवत प्रारंभ होता है। अपराध का संज्ञान लेना, अपराध की जांच करने की पुलिस की शक्ति के समाप्त होने के समतुल्य है। उस अवस्था तक, दंडाधिकारी को—सिवाय निजी परिवाद के मामले में—संज्ञेय या असंज्ञेय अपराध की जांच के लिए पुलिस को निर्देश देने के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति प्राप्त नहीं होती। दंडाधिकारी पुलिस द्वारा की जा रही जांच में हस्तक्षेप करने के लिए अधिकृत नहीं है। *किंग एम्परर बनाम ख्वाजा नजीर अहमद*, 71 इंडियन अपीलस, 203 में प्रिवी काउंसिल की न्यायिक समिति ने यह प्रतिपादित किया कि “न्यायपालिका और पुलिस के कार्य परस्पर पूरक हैं, परस्पर अतिक्रमणकारी नहीं” तथा “न्यायालय के कार्य उस समय प्रारंभ होते हैं जब उसके समक्ष आरोप प्रस्तुत किया जाता है, उससे पूर्व नहीं।” इसी प्रकार, *जमुना चौधरी बनाम बिहार राज्य*, [1974] 3 एससीसी 77 में इस न्यायालय ने कहा—

“अन्वेषण अधिकारी का कर्तव्य केवल ऐसा साक्ष्य एकत्र करना नहीं है जिससे न्यायालय दोषसिद्धि दर्ज कर सके, बल्कि वास्तविक, निष्कलंक सत्य को सामने लाना है।”

अन्वेषण अधिकारी पर जो एकमात्र कर्तव्य आरोपित है, वह अपनी जांच की डायरी संधारित करना है, जिसे संहिता की धारा 172 के अंतर्गत “केस डायरी” कहा जाता है। केस डायरी में की गई प्रविष्टियाँ साक्ष्य नहीं होती हैं और न ही उनका उपयोग अभियुक्त या न्यायालय द्वारा किया जा सकता है, जब तक कि मामला संहिता की धारा 172(3) के अंतर्गत न आता हो। न्यायालय को इसका अवलोकन करने का अधिकार है, ताकि यह

ज्ञात किया जा सके कि जांच उचित दिशा में की गई है या नहीं, जिससे आवश्यकता पड़ने पर उपयुक्त निर्देश दिए जा सकें। साथ ही, यह उन साक्षियों को तलब करने की आवश्यकता के संबंध में सामग्री भी प्रदान कर सकती है, जिनका उल्लेख अभियोजन द्वारा दी गई सूची में नहीं है, या ऐसे अन्य प्रासंगिक तथ्यों को अभिलेख पर लाने में सहायक हो सकती है, जो न्यायालय की दृष्टि में उचित निर्णय तक पहुँचने में सहायक हों, जैसा कि संहिता की धारा 172(3) में प्रावधानित है। अतः पुलिस का प्रमुख कर्तव्य यह है कि वह अपराध के किए जाने से संबंधित साक्ष्य एकत्र करे और उनका परीक्षण करे, ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि अभियुक्त ने अपराध किया है या उसके विरुद्ध ऐसा विश्वास करने का पर्याप्त कारण है, तथा उपलब्ध साक्ष्य अपराध को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं या नहीं, और तत्पश्चात वह अपनी रिपोर्ट सक्षम दंडाधिकारी के समक्ष प्रस्तुत करे, जिससे वह अपराध का संज्ञान ले सके।

*एस. एन. शर्मा बनाम बिपिन कुमार तिवारी और अन्य*, [1970 ] 3 एस. सी. आर. 946 में इस न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि धारा 159 का मुख्य उद्देश्य दंडाधिकारी को उन मामलों में जाँच का निर्देश देने की शक्ति प्रदान करना है, जहाँ पुलिस धारा 157(1) के प्रावधान के अंतर्गत मामले की जाँच न करने का निर्णय लेती है; और ऐसे मामलों में, यदि वह उचित समझे, तो वह स्वयं जाँच कर सकता है या किसी अधीनस्थ दंडाधिकारी को जाँच कर प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का निर्देश दे सकता है। धारा 159 का आशय दंडाधिकारी को सीमित शक्ति प्रदान करना है, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि पुलिस संज्ञेय अपराधों की जाँच करे और कुछ सीमित परिस्थितियों को छोड़कर जाँच से इंकार न करे। संहिता पुलिस को उन सभी मामलों में, जहाँ उन्हें संज्ञेय अपराध के घटित होने का संदेह हो, जाँच करने की निर्बाध शक्ति प्रदान करती है। उपयुक्त

मामलों में, कोई भी पीड़ित व्यक्ति संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत उच्च न्यायालय की शक्ति का आह्वान कर सकता है। यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जाँच की शक्ति का प्रयोग किसी पुलिस अधिकारी द्वारा दुर्भावनापूर्ण ढंग से किया गया है, तो जाँच अधिकारी को उसकी विधिक शक्तियों के दुरुपयोग से रोकने हेतु परमादेश जारी किया जा सकता है। यही दृष्टिकोण *बिहार राज्य और अन्य बनाम जे. ए. सी. सल्दान्हा और अन्य*, [1980 ] 1 एस. सी. सी. 554 में पुनः दोहराया गया, जिसमें इस न्यायालय ने यह कहा कि जब तक जाँच के प्रभारी व्यक्तियों द्वारा शक्ति के घोर दुरुपयोग का कोई असाधारण मामला स्थापित न हो, तब तक न्यायालय को जाँच की अवस्था में हस्तक्षेप करने से अत्यंत विरत रहना चाहिए। पुलिस और कार्यपालिका के लिए एक स्वतंत्र कार्यक्षेत्र आरक्षित है। इस न्यायालय ने यह भी नोट किया कि दंडाधिकारी में निहित उस अधिकार—कि प्रस्तुत सामग्री के आधार पर संज्ञान लिया जाए या नहीं—का उच्च न्यायालय द्वारा अतिक्रमण किया जाना स्पष्ट रूप से क्षेत्राधिकार का हनन है। उच्च न्यायालय ने गंभीर तथ्यगत विवादों पर, केवल शपथपत्रों से संकेत लेकर, टिप्पणियाँ कर गंभीर त्रुटि की, जो ऐसी स्थिति में विश्वसनीय सामग्री प्रदान नहीं करते। इस न्यायालय ने यह भी कहा कि ऐसा हस्तक्षेप या निर्देश वस्तुतः जाँच पूर्ण होने से पूर्व ही मामले को बंद करने हेतु परमादेश के समान है। *पश्चिम बंगाल राज्य बनाम संपत लाल*, [1985] 1 एस. सी. सी. ई. 317 पृष्ठ 336, कंडिका 26 में इस न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि जब विधि की आवश्यकताओं का पालन नहीं किया जा रहा हो और जाँच उचित ढंग से या यथोचित शीघ्रता एवं तत्परता से नहीं की जा रही हो, तब न्यायालय के पास पुलिस को उपयुक्त निर्देश देने की अवशिष्ट शक्ति होती है।

*दिल्ली नगर निगम बनाम पुरुषोत्तम दास झुनझुनवाला और अन्य* [1983] 1 एस. सी. 9 इस न्यायालय ने पाया कि अभियुक्त उत्तरदाताओं द्वारा निभाई गई सक्रिय भूमिका तथा उनकी देयता की सीमा के संबंध में स्पष्ट आरोप लगाए गए थे; अतः यह नहीं कहा जा सकता कि शिकायत अस्पष्ट थी, और उच्च न्यायालय द्वारा यह कहना कि उसमें अनुच्छेद 5 के आरोप अस्पष्ट हैं, पूर्णतः त्रुटिपूर्ण था। परिणामस्वरूप, धारा 482 के अंतर्गत कार्यवाही को अभिखंडित करने वाला उच्च न्यायालय का आदेश अभिखंडित कर दिया गया।

*इन अभिनंदन झा और अन्य बनाम दिनेश मिश्रा*, [1967] 3 एस. सी. आर. 668 में इस न्यायालय ने—संहिता की धारा 173(8) के प्रवर्तन से पूर्व—यह निर्णय दिया कि दंडाधिकारी पुलिस को आरोप-पत्र प्रस्तुत करने का निर्देश नहीं दे सकता और न ही जाँच के पश्चात किसी विशेष मत का निर्माण कर उसी के अनुरूप प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए पुलिस को बाध्य कर सकता है। यदि पुलिस यह प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है कि अभियुक्त को विचारण हेतु भेजने के लिए कोई मामला नहीं बनता, तो न्यायालय स्वयं उस प्रतिवेदन तथा संलग्न साक्ष्य के आधार पर अपराध का संज्ञान ले सकता है, यदि उसे आगे बढ़ने के लिए पर्याप्त साक्ष्य प्रतीत हों; अथवा स्वयं जाँच कर सकता है या किसी अधीनस्थ दंडाधिकारी को आगे की जाँच करने का निर्देश दे सकता है और धारा 190 आदि के अंतर्गत कार्रवाई कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपयुक्त मामलों में, जहाँ अपराध पंजीकरण के पश्चात अकारण शीघ्र जाँच नहीं की गई हो, वहाँ दंडाधिकारी या उच्च न्यायालय, आधारों से संतुष्ट होकर, जाँच को युक्तिसंगत समय के भीतर पूर्ण करने का निर्देश दे सकते हैं।

नजीर अहमद (उपर्युक्त) के मामले में न्यायिक समिति ने यह निर्णय दिया कि न्यायपालिका और पुलिस के कार्य परस्पर पूरक हैं, एक-दूसरे पर आच्छादित नहीं; और व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा विधि एवं व्यवस्था के यथोचित पालन का समन्वय केवल तभी संभव है, जब प्रत्येक को अपने-अपने कार्यों का निर्वहन करने दिया जाए।

संहिता जाँच का क्षेत्र विशिष्ट रूप से कार्यपालिका के लिए निर्धारित करती है, ताकि विधि एवं व्यवस्था पर सतर्क निगरानी रखी जा सके। पुलिस अधिकारी के पास, एक वैधानिक कर्तव्य के रूप में, उस संज्ञेय अपराध की जाँच करने की शक्ति और अधिकार होता है, जिसके घटित होने का संदेह हो, तथा अपराधी को कानून के समक्ष लाने का दायित्व होता है। इसके लिए उसे किसी दंडाधिकारी या न्यायालय की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती, सिवाय उन सीमाओं के जो धारा 156(3) में इंगित हैं—अर्थात् जाँच पर विरल पर्यवेक्षण तथा उससे संबंधित सहायक विषय, जैसे अभियुक्त को जमानत पर रिहा करना या आगे की जाँच हेतु उसकी उपस्थिति सुनिश्चित करना; संहिता की धारा 164 के अंतर्गत न्यायिक स्वीकारोक्ति दर्ज करना; अभियुक्त या अपराध से संबंधित वस्तुओं की पहचान परेड कराना; अथवा साक्ष्य अधिनियम की धारा 32 के अंतर्गत मृत्युकालीन कथन दर्ज करना।

जाँच अधिकारी विधि का एक अंग है और आपराधिक न्याय के वितरण तथा विधि एवं व्यवस्था के अनुरक्षण में वह केन्द्रीय भूमिका निभाता है। अतः पुलिस जाँच वह आधारशिला है जिस पर संपूर्ण आपराधिक विचारण की इमारत टिकी होती है—क्योंकि जाँच की कड़ी में हुई त्रुटि से न्याय का दुरुपयोग हो सकता है और अभियोजन का परिणाम बरी होना हो सकता है। इसलिए जाँच अधिकारी का कर्तव्य है कि वह तथ्यों का पता लगाए, आधे-अधूरे या उलझे हुए कथनों से सत्य को पृथक करे और घटनाओं की श्रृंखला को

जोड़े। जाँच एक धीमी और श्रमसाध्य प्रक्रिया है। अतः जाँच प्रक्रिया के क्षेत्र में पुलिस अधिकारी को पर्याप्त शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, जिससे उसे अपने विवेकाधीन अधिकारों के प्रयोग की व्यापक स्वतंत्रता प्राप्त हो, ताकि वह सफल जाँच कर सके। उसके कार्यों से ही विधि एक वास्तविक सकारात्मक शक्ति का रूप लेती है। प्रायः अपराध गोपनीयता में, कुशलता के साथ और ऊँचे स्तरों पर किए जाते हैं। जाँच अधिकारी को प्रकट या अप्रकट स्रोतों से सूचना प्राप्त करनी पड़ सकती है और सिवाय उन सीमाओं के जो संहिता, साक्ष्य अधिनियम या संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से निषिद्ध हैं, अभियोजन के मामले की प्रत्येक कड़ी को जोड़ने हेतु साक्ष्य एकत्र करने की कोई निर्धारित प्रक्रिया नहीं है। जाँच में निहित कठिन कार्य को देखते हुए, उसे तथ्यों और परिस्थितियों के अनुसार, जिस प्रकार वह उपयुक्त समझे, आवश्यक साक्ष्य एकत्र करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई है। उसका प्राथमिक ध्यान गहन जाँच द्वारा अपराध के समाधान पर होता है। सत्य का पता लगाना उसका कर्तव्य है। कठोर परिश्रम, विवरणों पर ध्यान, विशाल सूचनाओं में से सार निकालने की क्षमता, मान्य व्यवहारिक प्रतिरूपों की पहचान और सबसे बढ़कर अपराध एवं मामले के विभिन्न तत्वों से जुड़े विभिन्न व्यक्तियों के प्रयासों का समन्वय—ये सभी आवश्यक हैं। अतः जाँच की सफल समाप्ति हेतु विविध विधियों का समावेश होता है।

इस दृष्टिकोण से, पुलिस द्वारा की जा रही जाँच के दौरान न्यायपालिका का कार्य पूरक होना चाहिए और जाँच अधिकारी को घटनाओं की उस श्रृंखला को जोड़ने वाले साक्ष्य एकत्र करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिए, जो सत्य की खोज, अर्थात् अपराध के घटित होने के प्रमाण, तक ले जाती है। प्रायः किसी साक्षी या अभियुक्त की व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी प्रभावित होती है और असुविधा अपरिहार्य तथा अवश्यंभावी होती है। जाँच अधिकारी सत्य की खोज के लिए गहन जाँच करेगा, साथ ही विधि के यथोचित पालन के

साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता को भी ध्यान में रखेगा। उसी समय उसका कर्तव्य है कि वह आपराधिक विधि को एक अभिन्न प्रक्रिया के रूप में प्रवर्तित करे। कोई भी आपराधिक न्याय प्रणाली सम्मान के योग्य नहीं है, यदि उसके पहिये अज्ञानता से चलाए जाएँ। उसका कभी यह कार्य नहीं है कि वह संदिग्ध को अपराध से जोड़ने के लिए साक्ष्य गढ़े। पुलिस की विश्वसनीयता ही प्राथमिक आश्वासन है। जाँच क्षमता की प्रतिष्ठा और जाँच अधिकारी की व्यक्तिगत ईमानदारी, जनता के विश्वास को प्रेरित करने के लिए आवश्यक हैं। जनता का पूर्ण सहयोग भी आवश्यक है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि से उभरने वाला मुख्य प्रश्न यह है कि क्या आरोप-पत्र शिकायतकर्तारि आर.के. सिंह अथवा जाँच अधिकारी जी.एन. शर्मा की कथित दुर्भावना के कारण दूषित हैं। प्रशासनिक कार्यवाही का न्यायिक पुनरावलोकन में एस.ए. डी-स्मिथ, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 293 पर कहा गया है कि “वैधानिक शक्तियों के प्रयोग के संदर्भ में दुर्भावना की संकल्पना में बेईमानी (या धोखाधड़ी) और द्वेष सम्मिलित हैं। किसी शक्ति का प्रयोग तब धोखाधड़ीपूर्ण माना जाएगा, जब उसका धारक उस उद्देश्य से भिन्न किसी अन्य उद्देश्य को प्राप्त करना चाहता हो, जिसके लिए वह यह मानता है कि शक्ति प्रदान की गई थी। उसका आशय किसी अन्य सार्वजनिक हित या निजी हित को बढ़ावा देना भी हो सकता है। किसी शक्ति का प्रयोग तब द्वेषपूर्ण माना जाएगा, जब उसका धारक उन व्यक्तियों के प्रति व्यक्तिगत शत्रुता से प्रेरित हो, जो उसके प्रयोग से प्रत्यक्षतः प्रभावित होते हैं। प्रशासनिक विवेक का अर्थ है प्रशासनिक रूप से विवेकाधीन होने की शक्ति; अर्थात् किसी कार्य को करने या किसी विषय का निर्णय विवेक के आधार पर लेने का अधिकार।” प्रशासनिक प्राधिकरण को अपने विवेक से कार्य करने की स्वतंत्रता है, यदि वह इसे आवश्यक समझे या यदि वह तात्कालिक आधिकारिक कार्रवाई की आवश्यकता से संतुष्ट

हो। उसकी उत्तरदायित्वता केवल अपने उच्चाधिकारियों और सरकार के प्रति होती है। विवेकाधीन शक्ति का अर्थ मनमानी शक्ति नहीं है। यह न तो निरंकुश शक्ति है, न ही मनमानेपन से युक्त, और न ही वैधानिक आधारों से परे जाकर, निर्धारित शर्तों की अवहेलना करते हुए, किसी परोक्ष उद्देश्य से विवेकाधीन शक्ति के प्रयोग की कानूनी गैर-जिम्मेदारी। यदि ऐसा किया जाता है, तो संबंधित प्राधिकरण विधि के साथ संघर्ष में आ जाता है। जब शक्ति का प्रयोग दुर्भावनापूर्ण होता है, तो वह निस्संदेह रंगीन शक्ति-प्रयोग से दूषित हो जाता है। दुर्भावना का अर्थ है सद्भाव का अभाव, व्यक्तिगत पक्षपात, रंजिश, परोक्ष या अनुचित उद्देश्य अथवा परोक्ष प्रयोजन। कोई प्रशासनिक कार्रवाई तब सद्भाव में की गई मानी जाएगी, जब वह वास्तव में ईमानदारी से की गई हो, चाहे उसमें लापरवाही रही हो या नहीं। ईमानदारी से किया गया कार्य सद्भाव में किया गया माना जाता है। अतः प्रशासनिक प्राधिकरण को सद्भावपूर्वक कार्य करना चाहिए और कभी भी अनुचित उद्देश्य, परोक्ष प्रयोजन, विधि की अपेक्षाओं के विपरीत, या विधि द्वारा परिकल्पित परिस्थितियों के आधार से हटकर, अथवा किसी परोक्ष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विवेकाधीन शक्ति का अनुचित प्रयोग नहीं करना चाहिए। दुर्भावना की दलील के निर्धारण में दो प्रश्न सम्मिलित होते हैं, अर्थात् (i) क्या कोई व्यक्तिगत पक्षपात या परोक्ष उद्देश्य है; और (ii) क्या प्रशासनिक कार्रवाई प्रशासनिक शक्ति के वैध प्रयोग के उद्देश्यों, आवश्यकताओं और शर्तों के प्रतिकूल है।

अतः यह सिद्ध किया जाना आवश्यक है कि की गई कार्रवाई ऐसे विचारों के कारण *दुर्भावनापूर्ण* थी। मात्र कथन, या अस्पष्ट अथवा निर्वस्त्र आरोप पर्याप्त नहीं है। इसे या तो स्वीकृत तथ्यों से अथवा किसी दिए गए मामले में उपलब्ध सिद्ध तथ्यों और परिस्थितियों से प्रदर्शित किया जाना चाहिए। यदि यह स्थापित हो जाता है कि कार्रवाई ऐसे विचारों के

कारण, या शक्ति पर धोखाधड़ी, या रंगीन शक्ति-प्रयोग द्वारा की गई है, तो उसे बनाए नहीं रखा जा सकता।

लोक प्रशासन को न्यायिक विरक्ति की भावना में संचालित नहीं किया जा सकता। प्रशासनिक विवेकाधीन कृत्यों का एक अत्यंत व्यापक क्षेत्र है, जिसमें न्यायिक रूप से कार्य करने का निहित दायित्व नहीं होता, यद्यपि वह सद्भाव में किया जाना चाहिए, जिसे विधिक संरक्षण प्राप्त होगा। किंतु न्यायिक स्वर से रहित प्रशासनिक कार्य में हित-संघर्ष और पक्षपात की संभावना के विरुद्ध नियम का अनुपालन अनिवार्य नहीं होता। यह निहित है कि कोई शिकायतकर्तारि जब थानाध्यक्ष के समक्ष किसी व्यक्ति पर अपराध करने का आरोप लगाते हुए प्रतिवेदन दर्ज कराता है, तो वह प्रायः पीड़ित व्यक्ति हो सकता है, किंतु विरले ही जनहित में होता है। अतः अंतर्निहित शत्रुता स्वीकार्य है और मात्र उसी से आरोपित अपराध की सत्यता संदिग्ध नहीं हो जाती, बशर्ते कि वह तथ्यात्मक आधार पर टिकी हो।

*सिराजुद्दीन आदि बनाम मद्रास राज्य आदि*, [1970]2 एस.सी.आर.931 में इस न्यायालय ने निर्णय दिया कि किसी लोक सेवक, उसकी स्थिति चाहे जो भी हो, पर सार्वजनिक रूप से बेईमानी के ऐसे कृत्यों का आरोप लगाए जाने से पूर्व, जो गंभीर दुराचार या कदाचार के समकक्ष हों, किसी उत्तरदायी अधिकारी द्वारा आरोपों की उपयुक्त प्रारंभिक जाँच की जानी चाहिए। किसी विभाग में उच्च पद पर आसीन अधिकारी के विरुद्ध बिना जाँच के प्रथम सूचना प्रतिवेदन दर्ज करना, न केवल उस अधिकारी को, बल्कि उसके विभाग को भी अपूरणीय क्षति पहुँचा सकता है। जाँच अधिकारी को न तो दोष की किसी पूर्वकल्पित धारणा पर कार्य करना चाहिए और न ही जाँच को इस प्रकार आगे बढ़ाना चाहिए कि यह निष्कर्ष निकले कि वह संदिग्ध वैधता या स्वीकृति वाले उपाय अपनाकर

संबंधित व्यक्ति की दोषसिद्धि सुनिश्चित करने पर आमादा था। अपनाए गए साधन, प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य से कम नहीं, बल्कि उतने ही निष्कलंक होने चाहिए। संहिता का उद्देश्य यह है कि, यदि संभव हो, तो अपराध की जाँच करने वाला अधिकारी अत्यधिक निष्पक्षता के साथ आरोप-पत्र प्रस्तुत करे और दोषसिद्धि सुनिश्चित करे। कारण यह है कि किसी को भी अनावश्यक रूप से विचारण की पीड़ा नहीं झेलनी चाहिए, जब तक कि उसके लिए ठोस और पर्याप्त कारण न हों। उस मामले के तथ्यों में न्यायालय ने पाया कि प्रथम सूचना प्रतिवेदन दर्ज करने से पूर्व जाँच अधिकारी ने साक्षियों को उकसाया, उनसे धारा 162 के अंतर्गत उनके हस्ताक्षर सहित बयान प्राप्त किए और अभियोजन से आत्म-अभियोजक बयान भी दिलवाए। जाँच अधिकारी का यह आचरण अनुचित पाया गया। वर्तमान मामले में जाँच अधिकारी या प्रशासक के विरुद्ध ऐसा कोई आरोप कभी नहीं लगाया गया।

यू. पी. राज्य बनाम बी. के. जोशी, [1964] 3 एस. सी. आर. 71 में मुदोलकर, जे. ने पृथक किंतु सहमत मत में, पृष्ठ 86 और 87 पर यह कहा कि संहिता में किसी स्पष्ट या निहित निषेध के अभाव में भी, अपराध दर्ज करने से पूर्व प्रारंभिक जाँच किया जाना वांछनीय माना गया। इस दृष्टि से, यद्यपि प्रारंभिक जाँच किया जाना वांछनीय था, परंतु इस संबंध में प्रशासक द्वारा की गई चूक, अथवा प्रथम सूचना प्रतिवेदन दर्ज करने से पूर्व प्रशासनिक स्वीकृति प्राप्त न करना, अधिकतम एक अनियमितता हो सकती है, किंतु उत्तरदाताओं के विरुद्ध आरोपित अपराध की जाँच आरंभ करने के लिए यह कोई अनिवार्य पूर्वशर्त नहीं है।

यह स्थापित विधि है कि जिस व्यक्ति के विरुद्ध दुर्भावना या पक्षपात का आरोप लगाया गया हो, उसे कार्यवाही में नामनिर्दिष्ट रूप से प्रतिवादी बनाकर सम्मिलित किया

जाना चाहिए तथा उसे उन आरोपों का सामना करने का अवसर दिया जाना चाहिए। उसकी अनुपस्थिति में उन आरोपों की कोई जांच नहीं की जा सकती। अन्यथा यह स्वयं प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन होगा, क्योंकि यह बिना अवसर दिए किसी व्यक्ति को दोषी ठहराने के समान है। स्वीकारतः, आर.के. सिंह तथा जी.एन. शर्मा दोनों को पक्षकार नहीं बनाया गया। केवल इसी आधार पर उच्च न्यायालय को उनके विरुद्ध लगाए गए दुर्भावना या पक्षपात के आरोपों की जांच को रोक देना चाहिए था। न तो ऐसा कोई आरोप लगाया गया है और न ही हमारे संज्ञान में लाया गया है कि पुलिस के समक्ष शिकायत प्रस्तुत करने से पूर्व आर.के. सिंह का प्रतिवादियों के विरुद्ध कोई व्यक्तिगत द्वेष था। यह भी न तो हमारे संज्ञान में लाया गया है और न ही उच्च न्यायालय अथवा इस न्यायालय में आरोपित किया गया है कि शिकायत दर्ज करने के पश्चात उन्होंने अन्वेषण अधिकारी द्वारा की गई जांच में कोई हस्तक्षेप किया या किसी विशेष प्रकार से जांच कराकर प्रतिवादियों को दोषसिद्ध कराने हेतु कोई दबाव डाला। उच्च न्यायालय द्वारा जिस एकमात्र आरोप पर भरोसा किया गया, वह यह है कि प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज करने से पूर्व आर.के. सिंह ने कुछ दस्तावेजों पर विचार नहीं किया या उन्हें एक सप्ताह तक अन्वेषण अधिकारी को उपलब्ध नहीं कराया। यदि उन्होंने उन पर विचार किया होता तो वे प्रतिवादियों के पक्ष में हो सकते थे तथा कोई प्रशासनिक स्वीकृति प्राप्त नहीं की गई थी। हमारे विचार में मात्र इससे यह अनिवार्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि आर.के. सिंह, शर्मा या दत्त के विरुद्ध किसी व्यक्तिगत पक्षपात या दुर्भावना से प्रेरित थे। अधिकतम यह कहा जा सकता है कि शिकायत प्रस्तुत करने से पूर्व उन्होंने अपने विवेक का समुचित प्रयोग नहीं किया। इसी प्रकार अन्वेषण अधिकारी के विरुद्ध भी कोई व्यक्तिगत पक्षपात न तो आरोपित किया गया और न ही इस संबंध में उच्च न्यायालय द्वारा कोई निष्कर्ष निकाला गया। जिस

आधार पर उच्च न्यायालय ने भरोसा किया और जिसे स्वीकार किया, वह यह है कि जब प्रतिवादियों के पक्ष में बताए गए दस्तावेज उसके संज्ञान में लाए गए, तब उसने उन तथ्यों की जांच "अप्रासंगिक" कहकर नहीं की। पक्षपात से मुक्त होना प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का अभिन्न अंग है। जब किसी व्यक्ति पर पक्षपात का आरोप लगाया जाता है, तो उसे निर्णय प्रक्रिया में भाग नहीं लेना चाहिए। पुलिस अधिकारी का यह वैधानिक कर्तव्य है कि वह अभियुक्त द्वारा किए जाने के संदेह वाले अपराध की जांच करे और आवश्यक साक्ष्य एकत्र कर अभियुक्त को अपराध से जोड़ने का प्रयास करे। अन्वेषण अधिकारी कोई न्यायिक या अर्ध-न्यायिक कर्तव्य का निर्वहन नहीं करता, बल्कि साक्ष्य एकत्र करने का एक वैधानिक, प्रशासनिक कार्य करता है। अपने कौशल, अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर उसे यह निर्धारित करना होता है कि अभियुक्त ने आरोपित अपराध किया है या नहीं। यदि अभियुक्त को यह ज्ञात हो कि अन्वेषण अधिकारी उसके विरुद्ध व्यक्तिगत पक्षपात रखता है, तो उसका यह प्रथम कर्तव्य है कि वह यथाशीघ्र उच्च अधिकारियों या न्यायालय के संज्ञान में उन परिस्थितियों या आधारों को लाए, जिनके आधार पर उसे विश्वास हो कि अन्वेषण अधिकारी दुर्भावना से प्रेरित है और निष्पक्ष जांच संभव नहीं है। यदि वह अन्वेषण अधिकारी को जांच पूर्ण करने और प्रतिवेदन प्रस्तुत करने देता है, तो यह उसके द्वारा आपत्ति का परित्याग माना जाएगा और उसे कथित पक्षपात या दुर्भावना के आधार पर आरोपपत्र को चुनौती देने की अनुमति नहीं दी जाएगी। इसके अतिरिक्त, अन्वेषण अधिकारी वाद के विचारण के दौरान जिरह के लिए उपलब्ध रहेगा और अभियुक्त के लिए यह खुला रहेगा कि वह उससे आवश्यक परिस्थितियां या आधार उजागर कराए, जिससे अन्वेषण अधिकारी की निष्पक्षता पर संदेह उत्पन्न हो तथा यह स्थापित करे कि इसका प्रभाव विचारण में प्रस्तुत अभियोजन साक्ष्य पर पड़ा है। यह न्यायालय पर निर्भर करेगा कि

इसका विचारण के परिणाम पर कितना वास्तविक प्रभाव पड़ा है। जांच के दौरान एकत्र साक्ष्य, साक्ष्य अधिनियम के अनुसार सिद्ध किए जाएंगे तथा जिरह द्वारा परखे जाएंगे। अधीनस्थ न्यायालयों का यह तर्क कि यदि कोई प्राधिकारी निष्पक्षता या सद्भावना से कार्य नहीं करता, तो एक सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति अवश्य ही पक्षपात का अनुमान लगा सकता है, पुलिस/अन्वेषण अधिकारी के संदर्भ में अत्यधिक व्यापक विधिक कथन है।

*बिहार राज्य बनाम जे ए सल्दाना*, एआईआर 1980 एससी 326 = [1980] 1 एससीसी 554 में यह निर्णय किया गया कि यद्यपि सूचना देने वाले की *दुर्भावना* या *पक्षपात* का प्रश्न गौण महत्व का होता है, यदि विचारण के दौरान ऐसा निर्विवाद साक्ष्य अभिलेख पर आ जाए जिससे अपराध का प्रकटीकरण होता हो।

इसी प्रकार, उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष कि जाँच अधिकारी की *दुर्भावना* उसके पश्चातवर्ती आचरण, अर्थात् रिट कार्यवाही में उसकी सहभागिता से सिद्ध हो जाती है, हमारे मत में स्पष्टतः अवैध है। जब जाँच न्यायालय में चुनौती का विषय बनती है, तब यह स्वाभाविक है कि जाँच अधिकारी ही राज्य की ओर से मामले का प्रतिरक्षण करे; उसे प्रतिउत्तर शपथपत्र दायर करना होता है और राज्य की ओर से कार्यवाही में उपस्थित होना होता है। इस प्रक्रिया पर कोई आपत्ति नहीं की जानी चाहिए और किसी भी परिस्थिति में इसे *दुर्भावनापूर्ण* कृत्य नहीं माना जाना चाहिए। निःसंदेह, जब जाँच अधिकारी के संज्ञान में ऐसे कुछ दस्तावेज़ लाए जाते हैं जो अभियुक्त की संलिप्तता पर संदेह उत्पन्न करते हों, तो यह श्रेयस्कर होगा कि वह अपने पास उपलब्ध साक्ष्यों के सापेक्ष उन पहलुओं की भी जाँच करे, ताकि यह देखा जा सके कि वे आरोपित अपराध के घटित होने पर कोई संदेह उत्पन्न करते हैं या नहीं। उन पहलुओं की जाँच में चूक, किसी भी दृष्टि से, *दुर्भावना* का निष्कर्ष निकालने का आधार नहीं बन सकती। यह एक *सद्भावनापूर्ण* मत भी हो सकता है।

निःसंदेह, इस न्यायालय ने यह माना है कि शिकायतकर्तारों की दुर्भावना एक ऐसा कारक है जिस पर विचार किया जा सकता है; परंतु हमारे संज्ञान में ऐसा कोई निर्णय प्रस्तुत नहीं किया गया, जिसमें वैधानिक शक्ति के प्रयोग में चूक के कारण आरोप-पत्र को दुर्भावना से दूषित माना गया हो। *दुर्भावना* और पक्षपात के आरोप प्रायः सिद्ध होने की अपेक्षा सरलता से लगाए जाते हैं। (जाँच एक सूक्ष्म, परिश्रमसाध्य और कुशल प्रक्रिया है। जाँच की पेशेवरिता के लिए नैतिक आचरण अत्यंत आवश्यक है। नैतिकता को मानव आचरण की शुद्धता और अशुद्धता के व्यावहारिक मानक अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।) पुलिस जाँच अधिकारी को सर्वाधिक बार-बार और तात्कालिक नैतिक दबावों का सामना करना पड़ता है। प्रवर्तन और जाँच कार्यों से जुड़े अनेक तनावों के बावजूद, जाँच अधिकारी को एक पेशेवर और अडिग दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। किसी वांछनीय प्रतीत होने वाले उद्देश्य को उचित ठहराने के लिए अनैतिक तर्कों के आगे झुकने और अव्यावसायिक साधनों का सहारा लेने के बजाय, जाँच अधिकारी को यह समझना चाहिए कि कोई भी दोषसिद्धि उसकी व्यक्तिगत और पेशेवर सत्यनिष्ठा की आहुति के योग्य नहीं है। दुर्भावना के आरोप अपराध के उद्घाटन की मानसिक प्रवृत्ति और जाँच की प्रभावशीलता पर गहरा आघात करते हैं। दुर्भावना का भय एक ईमानदार और दक्ष जाँच अधिकारी को अपराध की गहन जाँच से विमुख कर सकता है। परिणामस्वरूप अपराध अनावृत रह जाता है और समाज को अपूरणीय क्षति होती है। अपराधी साहसी हो जाता है और जनता विधि एवं व्यवस्था की प्रभावशीलता में विश्वास खो देती है। इसलिए, ऐसे दुर्भावना या पक्षपात के आरोपों को स्वीकार करने से पूर्व, यह न्यायालय का श्रेयस्कर तथा अत्यंत दायित्वपूर्ण कर्तव्य है कि वह न केवल जाँच के प्रारंभ में ही जाँच अधिकारी के विरुद्ध व्यक्तिगत शत्रुता

के विशिष्ट और निश्चित आरोपों पर जोर दे, बल्कि यह भी अपेक्षा करे कि उन्हें तथ्यों और परिस्थितियों से न्यायालय की संतुष्टि तक स्थापित और सिद्ध किया जाए।

यह निर्विवाद है कि किसी को भी अनावश्यक रूप से परेशान नहीं किया जाना चाहिए और न ही आपराधिक विचारण की कठिन परीक्षा का सामना करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए, जब तक कि जाँच के दौरान अपराध के घटित होने का प्रकटीकरण करने वाली पर्याप्त सामग्री एकत्र न कर ली गई हो। (जाँच अधिकारी को अभियुक्त के दोष के संबंध में किसी पूर्वकल्पित धारणा पर कार्य नहीं करना चाहिए। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह समस्त सामग्री एकत्र करे, ताकि आरोप की सत्यता या असत्यता का निर्धारण विचारण के दौरान न्यायालय द्वारा किया जा सके। जाँच अधिकारी से निष्पक्ष और न्यायपूर्ण जाँच की अपेक्षा की जाती है; किंतु जाँच के दौरान एकत्रित साक्ष्य ही सब कुछ नहीं होते।) विचारण के चरण में अभियुक्त को साक्षियों से प्रतिपरीक्षा करने का व्यापक अवसर उपलब्ध होता है और यदि वह आवश्यक समझे, तो प्रतिरक्षा साक्ष्य प्रस्तुत कर सकता है तथा जाँच के दौरान एकत्रित साक्ष्य की सत्यता की परीक्षा कर सकता है।

विधि में दुर्भावना का अनुमान तब लगाया जा सकता है, जब कोई गलत कृत्य बिना किसी न्यायसंगत कारण या बहाने के, या वैधानिक शक्ति के प्रयोग के उद्देश्य से कोई युक्तिसंगत संबंध हुए बिना, जानबूझकर किया गया हो। (विधि में दुर्भावना केवल इस आधार पर स्थापित नहीं होती कि अभियुक्त के लिए प्रासंगिक बताए गए कुछ दस्तावेजों पर विचार नहीं किया गया। इसी प्रकार, किसी अपराध के घटित होने की सूचना थाना प्रभारी को देना, दुर्भावना या शक्ति पर धोखाधड़ी के साथ किया गया रंगीन शक्ति-प्रयोग नहीं माना जा सकता।) यह शक्ति का ईमानदार और सद्भावनापूर्ण प्रयोग भी हो सकता है। हमारे समक्ष ऐसा कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है, न ही दर्शाया गया है, जिससे यह

कहा जा सके कि प्रथम सूचना सद्भावना में दर्ज नहीं की गई थी। *हरियाणा राज्य बनाम भजनलाल जे टी* (1991) 4 एससी 655 इस सिद्धांत के लिए प्राधिकार है कि गहरी जड़ें जमाए राजनीतिक प्रतिशोध का अस्तित्व मात्र प्राथमिकी को अभिखंडित करने का आधार नहीं है। उस मामले में, उत्तरदाता द्वारा शपथपत्री साक्ष्य तथा दस्तावेजों के माध्यम से दुर्भावना सिद्ध करने का प्रयास किए जाने के बावजूद, और यहाँ तक कि आरोपित तथ्यों के आधार पर भी कोई अपराध सिद्ध न होने के तर्क के होते हुए, इस न्यायालय ने उन आरोपों में प्रवेश करने से इंकार किया और विवाद को जाँच के लिए छोड़ दिया। मैं बिना किसी संकोच के यह निर्णय करता हूँ कि उच्च न्यायालय के ये निष्कर्ष कि प्रशासक की *दुर्भावना* से प्राथमिकी दूषित हो गई है और आरोप-पत्र सूचना देने वाले या जाँचकर्ता की *दुर्भावना* का परिणाम हैं, न्यूनतम शब्दों में कहें तो, काल्पनिक हैं और विधि की स्पष्ट तथा गंभीर त्रुटि को दर्शाते हैं।

श्री आर.के. जैन, माननीय वरिष्ठ अधिवक्ता की दलील यह है कि जब जाँच के दौरान एकत्रित साक्ष्य निर्विवाद नहीं थे, तब अभियोजन और कार्यवाही की निरंतरता उत्तरदाताओं को परेशान करने की प्रक्रिया का ही एक चरण है, जो संविधान के अनुच्छेद 21-21 के अंतर्गत निहित उनके जीवन और आजीविका के अधिकार का उल्लंघन करती है। प्रश्न यह है कि क्या आक्षेपित कृत्य संविधान के अनुच्छेद 21-21 का उल्लंघन करते हैं। अनुच्छेद 21-21 प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार सुनिश्चित करता है। “व्यक्तिगत स्वतंत्रता” शब्द का विस्तार अत्यंत व्यापक है, जो नागरिक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का निर्माण करने वाले विविध अधिकारों को समाहित करता है। इसका हनन केवल संहिता और साक्ष्य अधिनियम में विनिर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार ही किया जा सकता है, जो सर्वोच्च विधि—संविधान—के आदेश के अनुरूप हो। जाँचकर्ता को अनुच्छेद

21-21 के आदेश के प्रति सचेत रहना चाहिए और वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मनमाने ढंग से कुचलने का अधिकार नहीं रखता, यद्यपि संहिता उसे अभियुक्त पर आरोपित संज्ञेय अपराध की जाँच करने की व्यापक शक्ति प्रदान करती है। समुदाय को होने वाली बुराई की गंभीरता या गंभीर अपराध का घटित होना मात्र, जाँचकर्ता को संविधान और विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही, और उसके अतिरिक्त नहीं, किसी नागरिक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने का असीम अधिकार प्रदान नहीं करता। अतः प्रक्रिया का पालन व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अवांछित आघातों के विरुद्ध एक आश्वासन है।

कोई जाँच अधिकारी, जो संवैधानिक आदेशों के प्रति संवेदनशील नहीं है, दुर्भावना से प्रेरित होने पर किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कुचलने की प्रवृत्ति रख सकता है। परंतु, जैसा कि कहा गया है, अभियुक्त को यथाशीघ्र न्यायालय के संज्ञान में व्यक्तिगत पक्षपात तथा इस संबंध में अपने युक्तिसंगत विश्वास को लाना चाहिए कि जाँचकर्ता के हाथों अपराध की निष्पक्ष जाँच नहीं होगी, और इसके लिए आवश्यक भौतिक तथ्यों के साथ कथन एवं प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिए। यदि वह आरोप-पत्र दाखिल होने तक मौन रहता है, तो यह मान लिया जाना चाहिए कि उसने अपनी आपत्ति त्याग दी है। प्रतिकूल प्रतिवेदन देखने के पश्चात वह कथित दुर्भावना का हवाला देकर पीछे नहीं हट सकता। (इसी प्रकार, संज्ञेय अपराध के घटित होने की सूचना थाना प्रभारी के समक्ष रखना मात्र जाँच की मशीनरी को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार कार्य करने हेतु गतिशील करता है।) अतः, उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष कि प्राथमिकी और आरोप-पत्र अनुच्छेद 21-21 के अंतर्गत संवैधानिक आदेश का उल्लंघन करते हैं, निराधार है।

.....अगला प्रश्न यह है कि आरोप-पत्र न्यायालय में दाखिल किए जाने के पश्चात स्वीकृति प्राप्त करने के कारण कब और किन परिस्थितियों में अवैध हो जाते हैं। धारा 197

(1) इस प्रकार कहती है:

“न्यायाधीशों तथा लोक सेवकों का अभियोजन— (1) जब कोई व्यक्ति, जो न्यायाधीश या दंडाधिकारी है या था, अथवा ऐसा लोक सेवक है या था, जिसे सरकार की स्वीकृति के बिना या उसके द्वारा ही पद से हटाया जा सकता है, किसी ऐसे अपराध का अभियुक्त बनाया जाता है, जिसके बारे में यह आरोप हो कि उसने उसे अपने शासकीय कर्तव्य के निर्वहन में या उसका प्रतिपादन करते हुए किया है, तो कोई भी न्यायालय ऐसे अपराध का संज्ञान पूर्व स्वीकृति के बिना नहीं लेगा—

(ए) उस व्यक्ति के मामले में, जो संघ के कार्यों से संबंधित किसी पद पर नियोजित है या, जैसा कि मामला हो, कथित अपराध के किए जाने के समय नियोजित था—केंद्रीय सरकार की;

(बी) उस व्यक्ति के मामले में, जो राज्य के कार्यों से संबंधित किसी पद पर नियोजित है या, जैसा कि मामला हो, कथित अपराध के किए जाने के समय नियोजित था—राज्य सरकार की।

अन्य उप-धाराएँ प्रासंगिक नहीं हैं। अतः उन्हें छोड़ा जाता है।

इसी प्रकार, आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 15-ए इस प्रकार कहती है—

“लोक सेवकों का अभियोजन— जहाँ कोई व्यक्ति, जो लोक सेवक है, किसी ऐसे अपराध का अभियुक्त बनाया जाता है, जिसके बारे में यह आरोप हो कि उसने उसे धारा 3 के अंतर्गत किए गए आदेश के अनुसरण में अपने कर्तव्य के निर्वहन में

या उसका प्रतिपादन करते हुए किया है, तो कोई भी न्यायालय ऐसे अपराध का संज्ञान पूर्व स्वीकृति के बिना नहीं लेगा—

(ए) केंद्रीय सरकार की, उस व्यक्ति के मामले में जो संघ के कार्यों से संबंधित किसी पद पर नियोजित है या, जैसा कि मामला हो, कथित अपराध के किए जाने के समय नियोजित था;

(बी) राज्य सरकार की, उस व्यक्ति के मामले में जो राज्य के कार्यों से संबंधित किसी पद पर नियोजित है या, जैसा कि मामला हो, कथित अपराध के किए जाने के समय नियोजित था।”

दोनों धाराओं में दिया गया बल इस बात पर है कि कोई भी न्यायालय किसी लोक सेवक के विरुद्ध ऐसे अपराध का संज्ञान नहीं लेगा, जिसके बारे में यह आरोप हो कि वह उसके द्वारा अपने शासकीय कर्तव्य के निर्वहन में या उसका प्रतिपादन करते हुए किया गया है, जब तक कि उपयुक्त सरकार की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न हो। पूर्व स्वीकृति के पीछे का उद्देश्य लोक सेवक को झूठे या तुच्छ आरोप अथवा अभियोजन के माध्यम से दुर्भावनापूर्ण, उत्पीड़क तथा अनावश्यक उत्पीड़न से बचाना है। दूसरे शब्दों में, धाराएँ 197 (1), 15-ए तथा संबंधित प्रावधान उस लोक सेवक को संरक्षण प्रदान करने के लिए अभिप्रेत हैं, जो अपने कर्तव्यों का ईमानदारी एवं परिश्रमपूर्वक निर्वहन करता है, ताकि वह अभियोजन के भय से मुक्त रह सके। शासकीय कर्तव्य का ईमानदार निर्वहन अनेक बार निजी व्यक्तियों के हितों, कृत्यों या चूकों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर सकता है, जिससे ऐसे व्यक्ति लोक सेवक का मनोबल तोड़ने के उद्देश्य से आपराधिक कार्यवाहियों एवं अभियोजन द्वारा उसे परेशान करने के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं।

लोक सेवक के शासकीय कर्तव्य के निर्वहन और आपत्तिजनक कृत्य या चूक के बीच संबंध अविच्छेद्य होना चाहिए। इसका स्पष्ट कारण यह है कि लोकहित तथा लोक सेवक द्वारा शासकीय कर्तव्य के कुशल निर्वहन की दक्षता और दूसरी ओर पीड़ित व्यक्ति की वैध एवं सद्भावनापूर्ण शिकायत—इन दोनों के बीच संतुलन बनाए रखा जा सके। कभी-कभी शासकीय कर्तव्य के निर्वहन में या उसका प्रतिपादन करते हुए कोई अधिकारी ईमानदारीपूर्वक अपनी सीमा से आगे बढ़ सकता है या कोई आदेश पारित कर सकता है अथवा कोई निर्णय ले सकता है, जो बाद में अवैध पाया जाए। इसलिए, उपयुक्त सरकार द्वारा दी गई पूर्व स्वीकृति लोक सेवक को यह आश्वासन प्रदान करती है कि वह बिना भय या पक्षपात के, निष्ठा, दक्षता और ईमानदारी से अपने शासकीय कर्तव्यों का निर्वहन करे, और उसे बाद में उत्पीड़न या प्रताड़ना की आशंका न सताए, जिससे वह सार्वजनिक हित में अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान दे सके।

आपत्तिजनक कृत्य का कर्तव्य के निर्वहन से अभिन्न रूप से जुड़ा होना आवश्यक है और वह कल्पित या दिखावटी नहीं होना चाहिए। यदि जिस कृत्य की शिकायत की गई है, वह प्रत्यक्ष तथा अविच्छेद्य रूप से शासकीय कर्तव्य से संबंधित है, भले ही वह लापरवाही से किया गया हो, कर्तव्य के उल्लंघन में किया गया हो या उससे अधिक में किया गया हो, तब धारा 197 तथा इसी प्रकार के अन्य प्रावधान, पीड़ित व्यक्तियों के हाथों दुर्भावनापूर्ण, उत्पीड़क अथवा तुच्छ आरोपों या अभियोजन के विरुद्ध एक संरक्षण कवच के रूप में कार्य करते हैं। यह विधि का सुव्यवस्थित सिद्धांत है कि किसी लोक सेवक को तभी यह कहा जा सकता है कि उसने अपने शासकीय कर्तव्य के निर्वहन में या उसका प्रतिपादन करते हुए कार्य किया है, जब उसका कृत्य या चूक उसके शासकीय कर्तव्य के दायरे में आती हो। यह प्रत्येक अपराध नहीं है जो किसी लोक सेवक द्वारा किया गया हो,

जिसके लिए अभियोजन की स्वीकृति आवश्यक हो; और न ही वह प्रत्येक कृत्य, जो उसके द्वारा अपने शासकीय कर्तव्य के रंग में संलग्न रहते हुए या ऐसा प्रतिपादित करते हुए किया गया हो, अभियोजन से संरक्षण प्राप्त करता है। यदि उससे प्रश्न किया जाए, तो उसे यह दावा करना होगा कि उसने वह कृत्य पद के कारण किया है और वह कर्तव्य से अविच्छेद्य रूप से जुड़ा हुआ है। तब स्वीकृति आवश्यक होगी, भले ही वह वास्तव में उसके कर्तव्य का उचित निर्वहन था या नहीं—यह गुण-दोष पर प्रतिरक्षा का विषय है, जिस पर विचारण के दौरान विचार किया जाएगा, और यह स्वीकृति प्रदान किए जाने के चरण पर उत्पन्न नहीं होता, जो अभियोजन का संज्ञान लेने से पूर्व आवश्यक है। अतः, जिन कृत्यों की शिकायत की गई है और शासकीय कर्तव्य के निर्वहन या उसके प्रतिपादन के बीच युक्तिसंगत संबंध होना चाहिए; कृत्य या चूक का कर्तव्य से ऐसा संबंध होना चाहिए कि अभियुक्त आपत्तिजनक कृत्य या चूक और कर्तव्य के बीच एक युक्तिसंगत संबंध स्थापित कर सके, न कि यह कोई दिखावटी या कल्पित दावा हो कि उसने वह कृत्य अपने कर्तव्य के पालन के दौरान किया। किसी लोक सेवक के कर्तव्य का कोई भाग नहीं है कि वह षड्यंत्र में प्रविष्ट हो; अभिलेखों का गढ़ंत करे; लेखाओं का मिथ्याकरण करे; धोखाधड़ी या गबन करे; अथवा अवैध पारितोषिक की मांग या स्वीकार करे, यद्यपि उसे प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग से ऐसे अपराध करने का अवसर प्राप्त हो गया हो। *के. सतवंत सिंह बनाम पंजाब राज्य*, [1960] 2 एससीआर 89 में इस न्यायालय ने यह निर्णय किया कि छल का कृत्य या उसका उकसावा शासकीय कर्तव्य के निर्वहन से कोई युक्तिसंगत संबंध नहीं रखता और न ही यह कहा जा सकता है कि वह कर्तव्य के पालन के दौरान किया गया था। यही *सिद्धांत हरिहर प्रसाद बनाम बिहार राज्य*, [1972] 3 एससीसी 89 में पुनः दोहराया गया।

एस.बी. साहा बनाम कोचर, [1980] 1 एससीआर 111 में इस न्यायालय ने यह निर्णय किया कि धाराएँ 409 तथा 120 बी के अंतर्गत अपराधों को शासकीय कर्तव्य के निर्वहन में या उसके प्रतिपादन में किया गया नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनका शासकीय कर्तव्य से कोई युक्तिसंगत संबंध नहीं है और न ही वे लोक सेवक के कर्तव्य से प्रत्यक्ष संबंध या अविभाज्य कड़ी रखते हैं। शासकीय पद-स्थिति ने मात्र अभियुक्त को कथित आपराधिक कृत्यों को करने का अवसर या प्रसंग प्रदान किया होगा।

यह भी समान रूप से स्थापित सिद्धांत है कि "स्वीकृति प्रदान करने से पूर्व प्राधिकारी या उपयुक्त सरकार के समक्ष आवश्यक प्रतिवेदन तथा वे भौतिक तथ्य उपलब्ध होने चाहिए, जो प्रथमदृष्टया आरोपित अपराध के घटित होने को स्थापित करते हों, और यह कि उपयुक्त सरकार उन तथ्यों पर अपना मनन करेगी।" स्वीकृति का आदेश मात्र एक प्रशासनिक कृत्य है, न कि अर्ध-न्यायिक, और न ही उसमें कोई विवाद (लिस) निहित होता है। अतः, जैसा कि श्री जैन द्वारा तर्क किया गया, स्वीकृति के आदेश में उसके समर्थन में विस्तृत कारणों का उल्लेख किया जाना आवश्यक नहीं है। तथापि, वे मूल तथ्य जो अपराध का गठन करते हैं, आक्षेपित आदेश पर प्रत्यक्ष होने चाहिए तथा अभिलेख से इस संबंध में कारणों का समर्थन होना चाहिए। उस चरण पर लोक सेवक को अवसर प्रदान करने का प्रश्न, जैसा कि उत्तरदाताओं की ओर से तर्क किया गया, उत्पन्न ही नहीं होता। अपराध के किए जाने के संबंध में प्रथमदृष्टया साक्ष्य के अस्तित्व पर विधिवत् विचार करना, स्वीकृति प्रदान करने या न करने की केवल एक पूर्व-शर्त है। जब सरकार ने स्वीकृति प्रदान की, तब साक्ष्य अधिनियम की धारा 114 (इ) यह विधिक अनुमान उत्पन्न करती है कि शासकीय कृत्य नियमित रूप से किए गए हैं। इस विधिक अनुमान का खंडन करने हेतु अभियुक्त पर अधिक भार होता है। एक बार ऐसा कर दिए जाने पर, अभियोजन

का यह कर्तव्य बनता है कि वह आवश्यक अभिलेख प्रस्तुत करे, जिससे यह स्थापित हो सके कि विषय पर विधिवत् मनन तथा विचार के उपरांत सक्षम प्राधिकारी द्वारा स्वीकृति प्रदान करने या अस्वीकृत करने का निर्णय लिया गया था। न्यायालय द्वारा अपराध का संज्ञान लिए जाने से पूर्व किसी भी समय स्वीकृति का आदेश किया जा सकता है। यह विधि का स्थापित सिद्धांत है कि अभियुक्त को न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने हेतु प्रक्रिया जारी किया जाना, अपराध का संज्ञान लेने की सिने क्वा नॉन (अनिवार्य शर्त) है। धारा 197 (1) या इसी प्रकार के अन्य प्रावधानों में प्रयुक्त यह अभिव्यक्ति कि “कोई न्यायालय पूर्व स्वीकृति के बिना ऐसे अपराध का संज्ञान नहीं लेगा”, इस बात को प्रतिपादित करती है कि आरोपित अपराध का संज्ञान लेने से पूर्व न्यायालय के समक्ष सक्षम प्राधिकारी द्वारा दी गई पूर्व स्वीकृति उपलब्ध होनी चाहिए। अतः, अपराध का संज्ञान लिए जाने से पूर्व किसी भी समय सक्षम प्राधिकारी के लिए स्वीकृति प्रदान करना खुला है और अभियोजन उस स्वीकृति आदेश को प्रस्तुत करने का अधिकारी है। स्वीकृति के बिना न्यायालय में आरोप-पत्र दाखिल करना पर से अवैध नहीं है और न ही वह कोई पूर्व-शर्त है। स्वीकृति आदेश के अवलोकन से स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है कि सरकार ने अपने समक्ष प्रस्तुत तथ्यों पर मनन किया, उन पर विचार किया और तत्पश्चात् स्वीकृति प्रदान की। इसके विपरीत किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हमारे समक्ष कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है। तदनुसार, हम यह निर्णय करते हैं कि उच्च न्यायालय ने इन आधारों पर आरोप-पत्र को अभिखंडित करते समय विधि की प्रत्यक्ष एवं गंभीर त्रुटि की है।

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या उच्च न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत अपने असाधारण अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करेगा और आरोप पत्र को अभिखंडित कर देगा। उच्च न्यायालय ने यह पाया कि उत्तरदाताओं/अभियुक्तों द्वारा जिन

दस्तावेजों पर भरोसा किया गया था, जिन्हें राज्य ने प्रति-शपथपत्र दायर करके अस्वीकार नहीं किया था। इसलिए, यह माना जाना चाहिए कि उन्हें भर्ती किया गया है। उस आधार पर उच्च न्यायालय ने पाया कि गुण-दोष के आधार पर कोई *प्रथम दृष्टया* मामला नहीं बनाया गया था और अंतिम दोषसिद्धि की संभावना "धूमिल" है। न्यायालय अवैधता और अन्याय के नाटक में निष्क्रिय दर्शक नहीं है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग किया जाना अनुमत है। जब उत्तरदाताओं द्वारा जिन दस्तावेजों पर भरोसा किया गया है, "वे यह प्रदर्शित करते हैं कि उन सामग्रियों के प्रत्यक्ष मूल्यांकन से कोई *प्रथम दृष्टया* अपराध सिद्ध नहीं होता, तब आपराधिक अभियोजन को जारी रखने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए और उसे अभिखंडित किया जाना चाहिए; तथा ऐसी स्थिति और परिस्थितियों में, याचिकाकर्ताओं को अपनी स्वतंत्रता की रक्षा हेतु संविधान के अंतर्गत प्राप्त अधिकार के कारण इस न्यायालय का दरवाजा खटखटाना उचित था और इन परिस्थितियों में इस न्यायालय के पास प्राथमिकी तथा दोनों आरोप-पत्रों को अभिखंडित कर राहत प्रदान करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था।" तदनुसार, उन्हें अभिखंडित कर दिया गया। यदि इस निर्णय को कायम रखा गया, तो मेरे सुविचारित मत में इसके अत्यंत चौंकाने वाले तथा विनाशकारी परिणाम होंगे। किसी आपराधिक न्यायालय द्वारा संज्ञान लिए जाने से पूर्व ही आरोप-पत्र को अभिखंडित करना "अजन्मे शिशु की हत्या" के समान है। जब तक आपराधिक न्यायालय अपराध का संज्ञान नहीं लेता, तब तक कोई आपराधिक कार्यवाही लंबित नहीं मानी जाती। मैं अपीलों को इस आधार पर स्वीकार नहीं कर रहा हूँ कि संहिता द्वारा प्रदान किए गए वैकल्पिक उपचार एक बाधा हैं; यह किसी उपयुक्त मामले में प्रासंगिक हो सकता है। मेरा मत यह है कि आरोप-पत्र के विरुद्ध रिट याचिकाओं को स्वीकार करना और *प्रथम दृष्टया* साक्ष्य के बहाने गुण-

दोष पर विचार करना, अनुच्छेद 226 या अनुच्छेद 227 के अंतर्गत, सक्षम दंडाधिकारी या सत्र न्यायालय द्वारा संज्ञान लिए जाने से पूर्व ही आपराधिक मुकदमे का पूर्व-विचारण करने के समान है। एक बार ऐसी कार्यवाहियाँ स्वीकार कर ली जाती हैं, तो आगे की कार्यवाही स्थगित हो जाती है। आपराधिक मामले का शीघ्र निपटारा एक मूलभूत सिद्धांत है। विलंब सामाजिक व्यवस्था के साथ अन्याय को पोषित करता है और रिट याचिकाओं को स्वीकार करना विविध युक्तियों द्वारा विचारण में विलंब को प्रोत्साहित करेगा। इसका यह आशय नहीं है कि किसी भी परिस्थिति में रिट याचिका स्वीकार नहीं की जानी चाहिए। जैसा कि इस मामले में कंपनी के निदेशकों के अनुरोध पर राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा उचित रूप से किया गया, विवेक इसी में निहित है कि न्यायालय हस्तक्षेप से विरत रहे और अभियुक्तों को संहिता के अंतर्गत उपलब्ध उपचार अपनाने के लिए निर्देशित करे। अनेक मामलों में इस न्यायालय ने केवल विलंब के आधार पर आपराधिक कार्यवाहियाँ अभिखंडित की हैं। एक मामले में, सीमा शुल्क अधिनियम तथा विदेशी विनिमय विनियमन अधिनियम के प्रावधानों के उल्लंघन के संबंध में 1954 में दर्ज प्राथमिकी को इलाहाबाद उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई थी। उसे जानबूझकर उच्च न्यायालय तथा इस न्यायालय में 1990 तक लंबित रखा गया। आरोप यह था कि अस्तित्वहीन फर्म के नाम पर नामित व्यक्तियों द्वारा विधि का उल्लंघन किया गया। वर्ष 1990 में, एक अन्य पीठ—जिसका मैं भी सदस्य था—द्वारा केवल विलंब के आधार पर प्राथमिकी को अभिखंडित कर दिया गया। इस प्रकार, अभियुक्त ने दंड से बचने का अपना उद्देश्य प्राप्त कर लिया। यह दर्शाता है कि अभियुक्त विचारण में विलंब कराने के उद्देश्य से रिट कार्यवाहियों का सहारा लेता है, अनेक तर्क उठाता है, जिनमें गुण-दोष पर विचार का तर्क भी सम्मिलित होता है, जैसा कि श्री जैन द्वारा इस मामले में गुण-दोष पर विचार कराने हेतु तीव्रता से आग्रह

किया गया, और कार्यवाहियों को लंबित रखा जाता है। परिणामस्वरूप, जनता विधि के शासन की प्रभावशीलता में विश्वास खो देगी। उत्तरदाताओं द्वारा जिन दस्तावेजों पर भरोसा किया गया है, वे विचारण के दौरान प्रमाण तथा प्रासंगिकता के अधीन हैं। यदि वे सत्य और प्रासंगिक सिद्ध होते हैं, तो वे विचारण में उत्तरदाताओं के लिए प्रतिरक्षा के रूप में सहायक हो सकते हैं। राज्य ने, पूर्णतः वैध रूप से और मेरे मत में उचित रूप से, उन दस्तावेजों में उत्तरदाताओं के कथन का खंडन या विरोध करते हुए प्रतिउत्तर शपथपत्र दाखिल करना आवश्यक नहीं समझा। अपराध के किए जाने का निर्धारण शपथपत्र साक्ष्य के आधार पर नहीं किया जा सकता। उच्च न्यायालय ने प्रथमदृष्टया मामला सिद्ध होने के प्रश्न पर गुण-दोष में प्रवेश करते हुए तथ्यों पर विचार कर निष्कर्ष देकर "अभी जन्म ही न ली हुई अभियोजन कार्यवाही को समाप्त करने" का संक्षिप्त मार्ग अपनाया। अनुच्छेद 226 के अंतर्गत अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग करते हुए आपराधिक मामले का पूर्व-विचारण करना उच्च न्यायालय द्वारा किया गया गंभीर विधिक त्रुटि है। आरोप-पत्र दाखिल हो जाने के बाद, प्राथमिकी मात्र आधार नहीं रह जाती। आरोप-पत्र तथा उसके समर्थन में प्रस्तुत साक्ष्य ही सक्षम न्यायालय द्वारा संज्ञान लेने या न लेने का आधार बनते हैं। यह ऐसा मामला नहीं है कि आरोप-पत्रों तथा प्राथमिकी में कोई अपराध प्रकट नहीं होता। अतः दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 या संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत उच्च न्यायालय की शक्ति की सीमा से संबंधित सभी निर्णयों पर विचार करना आवश्यक नहीं है।

इस न्यायालय के जिस निर्णय पर अत्यधिक निर्भरता रखी गई है, अर्थात् *पश्चिम बंगाल बनाम स्वर्ण कुमार*, [1932] 3 एस. सी. आर. 121, वह भी उत्तरदाताओं के लिए

किसी प्रकार से सहायक नहीं है। उस मामले में यह पाया गया था कि प्रथम सूचना प्रतिवेदन में ऐसे तथ्य प्रकट नहीं होते थे जिनसे किसी अपराध का गठन होता हो।

*माधोराव जे. सिंधिया बनाम संभाजी राव*, [1988] 1 एस. सी. सी. 692 का निर्णय भी उत्तरदाताओं की सहायता नहीं करता। उस मामले में आरोपों से एक दीवानी दोष का गठन होता था, क्योंकि न्यासियों ने किसी तीसरे पक्ष को लाभ पहुँचाने के लिए न्यास संपत्ति की किरायेदारी सृजित की थी। भारतीय दंड संहिता की धारा 467 सहपठित धारा 34 तथा धारा 120 बी के अंतर्गत अपराध के लिए एक निजी शिकायत दायर किया गया था, जिसे उच्च न्यायालय ने धारा 482 के अंतर्गत अभिखंडित करने से इंकार कर दिया था। इस न्यायालय ने अपील स्वीकार की और इस आधार पर कार्यवाही को अभिखंडित कर दिया कि शिकायत में किए गए अपने ही कथनों के अनुसार यह अधिकतम न्यासभंग या एक दीवानी दोष का मामला हो सकता था, किंतु किसी आपराधिक अपराध के आवश्यक तत्व सिद्ध नहीं होते थे। उन तथ्यों के साथ-साथ सेटलर, माता, अपीलकर्ता तथा उसकी पत्नी के पारिवारिक संबंध, अर्थात् पुत्र एवं पुत्रवधू होने के कारण भी, इस न्यायालय ने हस्तक्षेप किया और अपील स्वीकार की। इस न्यायालय ने इस प्रकार निष्कर्ष निकाला :

“न्यायालय का उपयोग किसी भी अप्रत्यक्ष उद्देश्य के लिए नहीं किया जा सकता है और जहां न्यायालय की राय में अंतिम निर्णय की संभावना कम है और इसलिए, आपराधिक अभियोजन को चालू रखने की अनुमति देने से कोई उपयोगी उद्देश्य पूरा होने की संभावना नहीं है, न्यायालय किसी मामले के विशेष तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कार्यवाही को भी अभिखंडित कर सकती है, हालाँकि यह प्रारंभिक चरण में हो सकता है।”

अतः उसमें प्रतिपादित अनुपात इस प्रकरण के तथ्यों पर किसी प्रकार से सहायक नहीं है। यह नहीं माना जा सकता कि इस न्यायालय ने विधि के किसी सिद्धांत के रूप में यह निर्धारित किया है कि प्रत्येक मामले में न्यायालय प्रारंभिक चरण में ही यह परीक्षण करेगा कि आरोपों के आधार पर अंततः दोषसिद्धि की संभावनाएँ हैं या नहीं, और उसी आधार पर धारा 482 या अनुच्छेद 226 के अंतर्गत कार्यवाही या आरोप-पत्र को अभिखंडित करने की शक्ति का प्रयोग करेगा। *सिराजुद्दीन* के मामले में मद्रास उच्च न्यायालय तथा इस न्यायालय ने, यद्यपि जाँच अधिकारी द्वारा जाँच के दौरान की गई गंभीर त्रुटियों पर ध्यान दिया, फिर भी आरोप-पत्र को अभिखंडित नहीं किया।

मैं यह कहने के लिए विवश हूँ कि माननीय न्यायाधीशों ने प्राथमिकी तथा आरोप-पत्रों को अभिखंडित करते समय विधि की अत्यंत गंभीर त्रुटियाँ की हैं। चूँकि कार्यवाही अभी प्रारंभ ही नहीं हुई है, अतः मैं पक्षकारों की गुण-दोष पर की गई दलीलों में प्रवेश करने से इंकार करता हूँ, यद्यपि श्री आर.के. जैन द्वारा गुण-दोष पर तीव्रता से तर्क प्रस्तुत किए गए तथा कपिल सिब्बल द्वारा उनका प्रत्युत्तर दिया गया, क्योंकि किसी भी प्रकार की राय व्यक्त करना अभियुक्त या अभियोजन, किसी के भी मामले को गंभीर रूप से पूर्वाग्रही बना सकता है। अपीलें स्वीकृत की जाती हैं और व्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं दिया जाता।

आर. एस. एस.

अपीलों की अनुमति दी गई।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।